श्रीहरिः

श्री-सनातनधर्म-शिक्षा

प्रथम पाठ

जिसको–

प० रामस्वरूप शर्मा ने



मुरादाबाद में छापकर
प्रकाशित किया.

१३ मार्च सन् १९१५



विषयसूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड





॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भूमिका

आहार—निद्रा—भय—मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

खाना, सोना, डरना और कामवासना आदि मनुष्य और पशु दोनों ही का साधारण धर्म है, केवल धर्म ही मनुष्य की विशेषता (आदामयत) है धर्महीन मनुष्य पशु की समान, है ।

एक धर्म ही सच्चा मित्र है, क्योंकि-यह मरने के बाद भी साथ जाता है, और सब ही देहका नाश होनेके साथ २ नष्ट होजाते हैं, ।

परन्तु ध्यान के साथ देखाजाय तो जगत् में सब के धर्म समान नहीं हैं । अग्निका धर्म उष्णता है तो बरफ का धर्म शीतलता है । सार बात यह है कि-पशु का धर्म प्रवृत्ति है और मनुष्यका धर्म निवृत्ति है । सब मनुष्यों के चित्त की वृत्ति एकसी नहीं होतीं है, सबका स्वभाव भी एकसा नहीं है । कोई भक्तिभाव में मग्न है, कोई ज्ञान की ओर झुका हुआ हैं और कोई कर्मकाण्ड का ही प्रेमी है । किसी को विज्ञान की चर्चा अच्छी लगती है, कोई दर्शन शास्त्र की चर्चा में प्रेम रखता है । ऐसे ही कोई गणितशास्त्र की, कोई सङ्गीत की, कोई काव्य की और कोई धर्मशास्त्र की चर्चा को अच्छा समझता है ।

इसके सिवाय मनुष्यजाति मात्रमें सबही एकसमान विद्या बुद्धि नहीं रखते हैं,इसलिए सब को ही एकसा अधिकारी नहीं कहाजासकता। जो अक्षर तक नहीं पहिचान सकता वह क्या उच्च ज्योतिष को या विज्ञान को अथवा दर्शन के दुरूह विषय को हृदयङ्गम करसकता है ? जिसके आंखें नहीं हैं, वह क्या शिल्पविद्या का पारदर्शी होसकता है? जिसके श्रवणशक्ति नहीं है वह क्या सङ्गीतश्रवण का अधिकारी होसकता है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं होसकता। वास्तविक अध्यात्मतत्त्व एक है परन्तु जबतक मनुष्य पूर्णता नहीं पाता है और जबतक सब विषयों में पराकाष्ठा को नहीं पाजाता है, तबतक इसका अपनी शक्ति के अनुसार एक विषयका साधन करके क्रमोन्नति के सोपान के द्वारा उस एक अद्वितीय तत्त्व में पहुंचने की चेष्टा करना होती है, इसलिए और २ विद्याओं को प्राप्त करनेमें जैसे अधिकारी के भेद से भिन्न २ पाठ और भिन्न२ साधनों के द्वारा उन्नति करनी होती है तैसे ही धर्ममार्ग में भी अधिकारी के भेद से भिन्न २ साधन होने की आवश्यकता है।

नहीं तो अत्यन्त स्थूलबुद्धि पुरुष किसप्रकार निराकार निर्गुण ब्रह्म की धारणा करसकता है ? वह अपने स्वभाव के अनुसार ही मनुष्य के उत्तम गुणों की पराकाष्ठा को ब्रह्ममें कल्पना करके उस को सगुण ईश्वरभावसे आराधना करने में प्रवृत्त होता है। और उस सगुण साधना को करते २ वह ज्ञान की उन्नति करता हुआ निर्गुण की साधना में जापहुंचेगा । निर्गुण की साधना, गुणवाचक उपासना, अर्चना या आराधना के द्वारा नहीं होसकती बाहरी चित्र या मानसिक चित्र (Physical or mental image)के द्वारा निर्गुण निराकारकी साधना नहीं होसकती। इसीलिए शास्त्र में सगुण ईश्वर का आराधनाका नाम अर्चना या उपासना रक्खा है और निर्गुण निराकार की साधना का नाम योग कहा है निराकार ब्रह्मकी उपासना वा आराधना है ही नहीं किंतु ब्रह्मसाधन वा योग

होता है। वास्तवमें निर्गुणसाधन का कोई नाम ही नहीं होसकता क्योंकि—नाममात्र गुणवाचक है, इसलिए मनुष्यों की भाषा में जहां तक प्रकट किया जासकता है तहाँतक उसका योग अर्थात् परमात्माके साथ जीवात्मा का योग यह नाम कल्पना कियागयाहै*।

सनातन हिंदूधर्म पूर्णावयव है जिज्ञासु पुरुष सम्यक् प्रकार ध्यान देने पर उसको पासकता है। इस सनातन धर्म के सकल तत्त्वों को वास्तविक रीति से पूरा २ जानने के लिए बहुतसे शास्त्रग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता है। यथा—

बेद-ऋक, यजु, साम, और अथर्व नामक अतिविस्तृत और अतिगूढार्थ मूल धर्मशास्त्र तथा उसकी बहुतसी शाखा प्रशाखाएं।

उपनिषद्—कठ, मुण्डक, छांदोग्य आदि वेदोल्लिखित ईश्वरतत्त्व के सारांशस्वरूप अतिगूढार्थ प्रायः ७०। ७५ तत्वनिर्णय करनेवाले शास्त्र।

---

* शास्त्र में भी इस विषय का वर्णन है—

विष्णुरात उवाच—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥

विष्णुरातः (विष्णुना रातो दत्तः परीक्षित्) उवाच—हे ब्रह्मन् निर्गुणे (गुणरहिते) अनिर्देश्ये (अनिर्वचनीये) ब्रह्मणि, गुणवृत्तयः (गुणेषु वृत्तिर्यासां ताः) श्रुतयः कथं, [साक्षात् [मुख्यया वृत्त्या] चरन्ति ! [लक्षणया, इति, चेत्—न, यतः]सदसदतः परे [सत्यादिकार्यभूताभ्यां सदसद्भ्यां सङ्गशून्ये वस्तुनि लक्षणापि न सम्भवति) ॥ १ ॥

विष्णुरात राजा परीक्षित् ने कहा (१) ब्रह्मन् ! आपने अभी ब्रह्म को वेदप्रतिपाद्य कहा है, परन्तु ब्रह्म किस प्रकार वेदप्रतिपाद्य है, यह मेरी समझ में नहीं आता। ब्रह्म निर्गुण-जाति

वेदाङ्ग-शिक्षा, कल्प, निरुक्त और छन्द यह चार तथा माहेश पाणिनीय आदि १० । १२ व्याकरण ग्रन्थ और असीम ज्योतिष ग्रन्थ, यह छः प्रकार का शास्त्र ।

गणित और फलित भेद से ज्योतिष दो प्रकारका है । जैसे त्रिकोणमिति, ज्यामिति, बीजगणित, पाटीगणित, सूर्यसिद्धांत और गोलाध्याय आदि ग्रन्थ सब गणित ज्योतिष के अन्तर्गत हैं ।

ग्रहण का फलाफल, अदृष्ट का फलाफल, भूत और भविष्यत् घटनाका निर्णय इत्यादि विषयके ग्रन्थ फलित ज्योतिष के अन्तर्गत हैं।

स्मृति-मनु, अत्रि, विष्णुहारीत, याज्ञवल्क्य आदि प्रायः ६० वेदशास्त्रज्ञ ऋषियों के रचेहुए मूल धर्मशास्त्र ।

पुराण-भागवत, वामन, ब्रह्माण्ड आदि १८ ग्रन्थ ।

उपपुराण-पुराणके अधिकांश लक्षणयुक्त १८ ग्रन्थ ।

तन्त्र-रुद्रयामल, महोदधि आदि ।

आदि विशेषणरहित है । जाति, गुण और क्रियायुक्त सगुण वस्तु का ही वाक्य से वर्णन होसकता है । ब्रह्म जातिरहित, गुणरहित और क्रियारहित निर्गुण वस्तु है । ऐसा वस्तु कभी भी शब्द के द्वारा निर्दिष्ट नहीं होसकती । गुणों में ही शब्द की प्रवृत्ति देखने में आती है । शब्दसमूह वेद कदापि तैसी वस्तु का निर्देश नहीं करसकता । गुणवृत्ति [२] सकल वेद किसप्रकार गुणरहित अनिर्वचनीय ब्रह्म का मुख्य वृत्तिके द्वारा प्रतिपादन करेंगे ? और जिसका मुख्य [३] के द्वारा प्रतिपादन नहीं होसकता उसका लक्षणावृत्ति [४] के द्वारा भी प्रतिपादन नहीं कियाजासकता । क्योंकि-शब्द जिसका प्रतिपादन नहीं करसकते हैं उसको कहा हीं कैसे जासकता है ? और ब्रह्म तो सत्त्वादि तीनों गुणों के कार्यभूत सत् और असत् सवही वस्तुओं से अतीत और असङ्ग वस्तु है, अतएव उस ब्रह्म वस्तु का लक्षणा वृत्ति के द्वारा भी किस प्रकार प्रतिपादन कियाजासकता है ?

दर्शन-न्याय, सांख्य, पातञ्जल, वेदांत, चार्वाकबौद्धआदि १६ ग्रंथ

इतिहास-रामायण महाभारत आदि ग्रंथ ।

शब्दशास्त्र-यादव, मेदिनी आदि प्रायः ५० कोश वा अभिधानग्रंथ

इनके सिवाय अन्य विद्याएं चौंसठ कलाओं में मानीगई हैं । यथा-सङ्गीतविद्या, शारीरविधान विद्या, चिकित्सा विद्या, रसायन विद्या, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि ।

इन सब शास्त्रों के टीका बहुतसी टिप्पणी. बहुत से संग्रहग्रंथ और उन संग्रहग्रंथों के भी बहुत से टीका टिप्पणी हैं ।

इन सब शास्त्रों में एक वेद ही अखण्डनीय है, वेद ही सकल शास्त्रों की मूल वा प्रमाण है । श्रुति स्मृति का परस्पर विरोध होनेपर श्रुति को ही गरीयसी मानना होगा, यथा-

"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।"

इस के सिवाय और भी लिखा है-

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ मनु०

जो पुरुष वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से धर्मोपदेश अर्थात् स्मृति आदि के अर्थ की सङ्गति लगाता है वह ही वास्तव में धर्म के मर्म को जानता है, दूसरा नहीं ।

और उसमें भी कितने ज्ञान विचार की आवश्यकता है देखिये वसिष्ठजी ने कहा है-

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥

युक्तियुक्त उपदेश का वचन बालक से भी ग्रहण करलेय और युक्तिविरुद्ध बात चाहे ब्रह्मा के भी मुख से निकले तो उसको तृणकी समान त्यागदेय ।

बृहस्पति ऋषि ने कहा है कि-

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः ।

युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते ॥

केवल शास्त्रका आश्रय करके किसी तत्त्व का निर्णय नहीं करना चाहिये, क्योंकि-युक्तहीन शास्त्रबिचार से धर्मकी हानि होती है मुण्डक ऋषि ने कहा है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह सब अपरा (अश्रेष्ठ) विद्या हैं और जिस विद्यासे अव्यय परब्रह्म को जानाजाता है वह परा (श्रेष्ठ) विद्या है।

यह ज्ञान युक्ति की प्रधानता और चिन्ता की स्वाधीनता हिन्दूधर्म की एकमात्र विशेषता नहीं है। और भी दोचार विशेषता की बातें नीचे लिखते हैं—

(क) पहिले हरएक मनुष्य की मनोवृत्ति की स्वाभाविक विलक्षणता की बात कहचुके हैं, यह कल्पित बात नहीं है, कोई मनुष्य सत्वगुणप्रधान होते हैं, कोई रजोगुणप्रधान होते हैं और कोई तमोगुणप्रधान होते हैं। शास्त्र ने भी इस स्वाभाविक विभाग का अवलम्बन करके भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के कर्त्तव्यपालन और साधन के लिये भिन्न २ प्रकारकी रीति बताई है।

(ख) हिंदूधर्ममें मनुष्यजाति के असाधारण बुद्धिमान्, साधारण बुद्धिमान् और अत्यन्त मूढ़ इन तीनों प्रकार के पुरुषों के धर्मानुष्ठान की यथायोग्य भिन्न २ व्यवस्था करदी है।

(ग) स्त्री और पुरुषों की मानसिक प्रकृति, शारीरिक शक्ति और कार्यसाधन की उपयोगिता के विषय में जो स्वाभाविक विलक्षणता है, हिन्दूशास्त्र ने उसका विचार करके दोनोंके धर्मानुष्ठान की यथोचित उपयोगी व्यवस्था करदी है। जैसी कठोरता और वैराग्य पुरुषोंके साध्य है, वह कोमल स्वभाववाली स्त्रियें

के लिए अतिकठिन है, इसको सबही मानेंगे, परन्तु न्यायशील शास्त्रकारों ने युगलात्मा को तुल्य फल दिया है अर्थात् पत्नी को सहधर्मिणी करके स्वामी के पुण्य की अर्धभागिनी बनादिया है।

(घ) अवस्था के क्रम के अनुसार मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्ति में कमी वेशी होती है। इस लिए बालक, जवान और बूढ़ोंके यथोचित धर्मानुष्ठान की व्यवस्था की गई है।

(ङ) नीरोग और रोगी, बलवान् और दुर्बल इत्यादि भिन्न २ अवस्था और शक्तिवाले सकल मनुष्य एकही प्रकार का अनुष्ठान करसकें यह कदापि सम्भव नहीं है। अथवा सम्पत्तिकाल और आपत्तिकाल में एकही प्रकार का अनुष्ठान करना नहीं बनसकता इस कारण से दूरदर्शी ऋषियों ने अवस्थानुसार आपद्धर्म आदि देशकालोपयोगी विधान पहिले ही से करदिया है।

(च) योग के द्वारा दिव्यदृष्टि पानेवाले ऋषिजन परलोक की अवस्था और तत्व का स्वयं प्रत्यक्ष करके, उसके अनुकूल पाप पुण्य की न्यूनाधिताके अनुसार दण्ड और पुरस्कारकी न्यूनाधिकता का वर्णन करकेदयामय जगदीश्वर की न्यायपरायणताको अक्षुण्ण रखगए हैं "पुण्यवान् पुरुष अनन्तकाल तक स्वर्गसुख भोगेगा और पापी पुरुष अनन्तकाल तक नरक में पड़ा रहैगा।" अर्थात् अनन्तकाल बीतनेपर भी परित्राण की आशा नहीं है। यह बात करुणामय भगवान् की दया और न्यायपरायणताके सर्वथा विरुद्ध है। सनातनधर्म साक्षी देता है कि—पापी के पाप का क्षय होने पर वह फिर उन्नति के मार्ग पर चढ़सकैगा और अन्त को उसको भी पुण्यात्माकी समान मोक्ष प्राप्त होगी

(छ) सनातनधर्म की अनेकों विशेषताओं में सब से प्रधान विशेषता यह है कि—साकार और निराकार भेदसे उपासनाके क्रमका विधान और इस निराकार के ध्यानके विषयमें ज्ञान

प्रधान व्यक्ति के लिये ज्ञानयोग, भक्तिप्रधान पुरुषके लिये भक्तियोग और कर्मप्रधान पुरुष के लिये कर्मयोगकी जो व्यवस्था की है, उसमें सब प्रकारके अधिकारी अपने २ स्वभाव के अनुकूल मार्ग का अवलम्बन करके सबही उस परममुक्ति वा निर्वाण पद में आरोहण करसकते हैं।

परन्तु साकार उपासना की बात उठाते ही हमारे आजकल के अंग्रेजी विश्वविद्यालय के उपाधिव्याधिग्रस्त युवक "पौत्तलिकता" कहकर चीत्कार करउठेंगे। वास्तव में प्रचलित, अपभ्रंश हिन्दूधर्म भी पौत्तलिकताप्रधान धर्म नहीं है। राजा राममोहन राय इस विषयमें एक शास्त्रका वचन उद्धृत करके यह प्रमाणित करगए हैं।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
रूपस्थानं देवतानां पुंस्त्र्यंशादिकल्पना।
स्मार्त्तधृतयमदग्निवचन।

ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय, उपाधिशून्य, शरीररहित जो परमेश्वर उसके रूपकी कल्पना साधक उपासक की साधना की सहायता के लिए ही कीगई है और रूप की कल्पना करने पर स्वाभाविक ही अवयवों की पुरुष स्त्री भेद रूप कल्पना करनी पड़ती है

रूपनामादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः।
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामार्त्तिजन्मभिः॥
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्।
(विष्णुपुराण)

परमात्मा रूप नाम आदि विशेषणों से रहित, नाशरहित, परिणामशून्य और दुःख तथा जन्म से शून्य हैं। केवल 'है' इतना कहकर ही उसका वर्णन कियाजाता है।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
काष्ठलोष्ट्रेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता॥

केवल जलको ही ईश्वर मनुष्य मानते हैं, देवज्ञाना ग्रहादि में ईश्वर मानते हैं, काठ मट्टी आदिको ही मूर्ख ईश्वर मानते हैं और जो ज्ञानी है वह परमात्मा को ही ईश्वर मानते हैं।

परे ब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते॥ (कुलार्णव)

परब्रह्म का ज्ञान होने पर कर्मकाण्डादि किसी नियम का प्रयोजन नहीं रहता है। जैसे मलयागिरि की पवन मिलजाने पर तालवृन्त (पंखे) की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसका वाणी वर्णन नहीं करसकी, जो वाणी को प्रेरणा करताहै, उसको ही तुम ब्रह्म जानो, लोक जो कुछ परिमित पदार्थों की उपासना करते हैं यह ब्रह्म नहीं है।

एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम्॥

इसप्रकार गुणोंके अनुसार भगवान् के नानाप्रकार के रूप अल्पबुद्धि भक्तोंके लिए कल्पना किएगए हैं।

मनसा कल्पिता मूर्त्तिर्नृणां चेन्मोक्षसाधिनी।
स्वप्नलब्धेन राज्येन राजानो मानवास्तदा॥

मनःकल्पित मूर्त्ति यदि मनुष्यों की मुक्ति का कारण हो तो स्वप्नमें पाएहुए राज्यसे भी मनुष्य अनायासमें राजा होसकता है।

बालक्रीडनवत्सर्वं रूपनामादिकल्पनाम्।
विहाय ब्रह्मनिष्ठो यः स मुक्तो नात्र संशयः॥ म०नि०त०

नाम रूप आदि कल्पनाको बालकों के खेल की समान जान-

कर मनुष्य सत्स्वरूप परमेश्वरकी उपासना के द्वारा मुक्त होजाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्त्तावीश्वरबुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढ़ा परां शान्तिं न यान्ति ते
श्रीमद्भागवत.

जो मूढ़ पुरुष मट्टी, पत्थर, तथा सोना आदि धातु और काठ के बनेहुए विग्रह को ही ईश्वर मानबैठते हैं, वह क्लेश पाते हैं, परम शान्ति नहीं पासकते।

न कर्मणा विमुक्तः स्यान्न मन्त्राराधनेन वा।
आत्मनात्मानं विज्ञाय मुक्तो भवति मानवः॥
म० नि० तन्त्र

मनुष्य कर्म से मुक्ति नहीं पासकता, केवल मंत्र वा आराधन से भी निर्वाणपद नहीं मिलता, जब आत्माके द्वारा आत्मा का जानता है तब ही मुक्ति पाता है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः।
श्रीमद्भागवत.

सकल प्राणियों में वर्त्तमान सर्वात्मा मुझको (ईश्वर का) मूढतावश भूलकर जो पूजाकरता है वह मानो भस्ममें होम करता है

साकारमनृतं विद्धि निराकारन्तु निश्चलम्।
अष्टावक्रसंहिता.

जो कुछ पञ्चभूतात्मक आकारवाला दीखता है, उसको कुछ दिन रहनेवाला जानो और परब्रह्म को अचल सत्य मानो।

तोयं विना यथा नास्ति पिपासानाशकारणम्।
तत्वज्ञानं विना देवी मुक्तिर्न जायते (कुलार्णव)

हे देवि! जैसे जलके विना प्यास की शान्ति नहीं होती है तैसे ही तत्त्वज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है।

इन अनेकों शास्त्रोंके वचनों से यह बात सिद्ध होती है कि-अल्पबुद्धि अज्ञ पुरुष निराकार अनन्त परमेश्वरकी धारणा नहीं करसकते उनकी उपासनाकी सहायता के लिए अनेकों रूपोंकी कल्पना हुई है, तथा अनेकों प्रकार की साकार उपासना का विधान हुआ है, परन्तु ब्रह्म के स्वरूप को विनाजाने कभी मुक्ति नहीं होसकती। परब्रह्म की उपासना ही इस धर्मका प्रधान उपदेश है। हिन्दुशास्त्र में यह बात बार २ कही है कि-ब्रह्म को जाननेकी चेष्टा करै ब्रह्मज्ञानके विना मुक्तिका दूसरा उपाय नहीं है। यथा—

तन्दुर्दर्शंगूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति

वह दुर्ज्ञेय है, सब वस्तुओं में गूढ़रूप से प्रविष्ट है, आत्मामें स्थित है, अतिगूढ़ स्थानमें रहता है और नित्य है और धीर पुरुष परमात्मा के साथ अपने आत्मा का संयोग करते हुए अध्यातम-योग से उस प्रकाशवान् परमेश्वरको पाकर हर्ष शोकसे छूटजाते हैं

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

उसको नेत्र से ग्रहण नहीं कियाजासकता, वाणासे नहीं ग्रहण कियाजासकता, और अन्य इन्द्रियें भी उसको ग्रहण नहीं करसकतीं, तपस्या वा यज्ञ आदि कर्मोंके द्वारा भी वह नहीं मिलता ज्ञानके प्रसादसे शुद्धचित्त पुरुष ध्यानयुक्त होकर निराव-यव ब्रह्मका पासकता है।

नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

जो सकल अनित्य वस्तुओं में एकमात्र नित्य है, जो सकल चेतनोंका चेतयिता है, जो अकेला ही सकल प्राणियों की काम्य वस्तुओंका विधान करता है। जो धीर पुरुष उसको आत्मा में स्थित देखते हैं उनको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, यह दूसरों को कभी नहीं मिलसकती।

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम्॥

जो परमात्माके साथ अपने आत्मा को मिलाकर अटलभाव से योगीके स्वरूप में स्थित होता है, वह पापका नाश करता है और अक्षय ब्रह्मपद को पाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

इसप्रकार योगी पुरुष परमात्माके साथ अपने आत्मा का संयोग करके निष्पाप हो सुखसे ब्रह्मस्पर्शके आनंदको भोगता है।

तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रांतिमात्मनि।
संप्रयात्यपुनर्नाशां स्थितिं तुर्यपदाभिधाम्॥

जबतक परमात्मा में विश्राम नहीं मिलै तबतक तत्त्वविचार करता रहै, क्योंकि ऐसा करने से शुद्ध चैतन्य परमात्माके साथ अविनाशी एकता मिलती है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः॥

जिस परमात्मा को नियत सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा पायाजाता है। वह ज्योतिर्मय, स्वच्छ, परमेश्वर शरीर के भीतर मनमें विराजमान है। योगीजन निष्पाप होकर उसका ही दर्शन करते हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

यह चित्स्वरूप परमात्मा सकल प्राणियों में प्रच्छन्न रूप से स्थित हैं, अध्यात्मदर्शी साधकजन उसको एकाग्रमनसे देखते हैं।

(इस विषयमें आगे लिखा निरञ्जनाष्टक देखिये)

हिंदूशास्त्र में बताई हुई साकार उपासना की परिपाटी में चार प्रधान कौशल विद्यमान हैं।

प्रथम—जबतक मनुष्यके ज्ञानरूपी नेत्र नहीं खुलते हैं तबतक इस स्थूलदृष्टि से दीखने में न आनेवाले जगदीश्वर के अस्तित्व (होने) का अनुभव नहीं होसकता है। और जगदीश्वर सर्व्वव्यापी है। चेतन अचेतन सबही पदार्थों में वह विद्यमान है। जो कुछ स्थूलज्ञानी पुरुष हैं, वह यदि जगत् की किसी अचेतन जडमूर्त्तिमें ईश्वरबुद्धि स्थापित कर और वह मनुष्य की समान सुख दुःख आदि का अनुभव करता है ऐसा मानकर उसके ऊपर स्नेह ममता आदि प्रकाशित करनेका अभ्यास करै तो अवश्य ही उनका अन्तःकरण कुछ निर्मल और निश्चल होगा तथा क्रम २ से धर्म की प्रवृत्तियें बढ़ती जायँगी। इस युक्ति से ईश्वर की आत्मवत् सेवा नामक प्रथम कौशल की रचना हुई है।

पुराणादि शास्त्रों का, मूर्त्तिपूजा आदि के आधार पर सब आलाङ्कारिक वर्णन इसी कौशल से प्रकट हुआ है।

द्वितीय—जब ऐसा ज्ञान होजाता है कि-सब पदार्थोंमें ईश्वर की विद्यमानता होनेपर भी किसी जडमूर्त्ति में विद्यमान ईश्वरांश वास्तविक सुख दुःख का अनुभव नहीं करता है और मनुष्यादि की समान उसकी कोई निकृष्ट प्रवृत्ति भी नहीं है, तब उस पुरुष को सुख दुःखसे अतीत पवित्र स्वरूप स्थानमें केवल भक्ति दिखाने की इच्छा ही बलवती होती है। उससमय सन्मुख स्थित किसी भावमयी मूर्त्ति के निकट हाथ जोड़े खड़े होकर उसके चरणकमलों

में पुष्पाञ्जलि अर्पण आदि जैसा साक्षात् भक्तिके प्रकाशित करनेका चिह्न है तैसा और नहीं है, इस युक्ति के आश्रय पर 'चित्रित वा निर्मित मूर्त्ति में' चेतनता की कल्पना करके ईश्वर पूजा रूप दूसरे कौशल की सृष्टि हुई है।

मूर्त्ति की प्राणप्रतिष्ठा और विसर्जन आदि सब व्यवस्था इसी कौशल से उत्पन्न हुई है।

तृतीय।—क्रमसे साधना करते २ जब ईश्वर की सर्वव्यापिता का ज्ञान दृढ़ होजाता है तब निर्मित मूर्त्ति आदि के विना भी जिस किसी बाहरी वस्तु में ईश्वरपूजा की सफलताका अनुभव होने लगता है। इसी के लिये 'बाह्यपूजा, रूप तीसरे कौशल का अवलम्बन कियागया है।

जलके पात्रमें नदी आदिमें और तुलसी वृक्षादिमें (अव्यक्त चैतन्य की) पूजा इसी कौशलसे उत्पन्न हुई है।

चतुर्थ।—क्रमसे ज्ञानकी उन्नति होते २ जब ऐसा बोध होता है कि—जीवात्मा ही परमात्माका अंशस्वरूप है, उस समय अपने शरीर में ही ईश्वरके अस्तित्व का अनुभव होताहै, उस अवस्था के लिये 'मानसपूजा' नामक चौथे कौशलकी सृष्टि हुई है।

प्रतिदिन की पूजा के समय आन्तरिक आसनशुद्धि भूतशुद्धि और मानसिक पूजा आदि की उत्पत्ति इसी कौशल से हुई है।

(ज) एकमात्र हिंदूधर्म ही ईश्वरको हृदयमें स्थित जानकर अर्चना करनेका उपदेश देता है प्रतीत होता है जगत् का दूसरा कोई भी धर्म स्पष्ट रूपसे ऐसा उपदेश नहीं देता है, ईश्वरको अपने हृदय में चित्रित देखने पर जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है तैसा और किसी प्रकारसे भी नहीं होता।

(झ) सनातनधर्ममें वार २ परमात्मा के साथ जीवात्मा के योग का विषय विशेषता के साथ विचारित नियमित और व्या-

ख्यात हुआ है। पृथिवी के और किसी धर्म के शास्त्र में दिव्य योगमार्गकी ऐसा विशद और विस्तृत व्याख्या देखनेमें नहीं आती

(ञ) भूमण्डल पर अनेकों धर्मसम्प्रदाय और उनके मान्य धर्मग्रंथ हैं तथा वह सब ही मनुष्य को सन्मार्गगामी शिष्टाचारी और मोक्षसाधन में तत्पर होने का उपदेश देते हैं। परन्तु एक आर्यऋषि प्रणीत शास्त्रके सिवाय और कोई निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और निष्काम साधना की शिक्षा नहीं देता है। और धर्मों में केवल इस लोक के वा परलोकके सुख की प्रत्याशा से धर्मानुष्ठान का विधान देखने में आता है केवल एक आर्य ऋषि ही फल की कामना न करके धर्म के निमित्त ही धर्म साधन की और ईश्वर के निमित्त ही ईश्वरोपासना की व्यवस्था करगए हैं।

(ट) जगत्के प्रायः सकल धर्मावलम्बी कहते हैं कि 'हमारे धर्म को न माननेसे तुम अनन्त नरक में पडोगे। हमारा मोक्ष मार्ग ही एक मोक्षमार्ग है, और सब भूलेहुए हैं, सबका कहना मिथ्या है।, परन्तु हिंदूशास्त्र क्या कहता है उसको भी एक बार देखिये

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

(महिम्नस्तव)

अर्थात् रुचिके भेदके अनुसार सूधे टेढे मार्गों में को होकर मनुष्य अन्त में तुमको ही पाते हैं, जैसे सकल नदियें चाहे तिस मार्ग से जायँ अन्त में जाकर महासागर में ही मिलजाती हैं।

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघाः जान्हवीया इवार्णवे (रघुवंश)

शास्त्रों के द्वारा अलग २ बताएहुए सिद्धि देनेवाले अनेकों मार्ग इसप्रकार आप में जाकर मिलजाते हैं कि—जैसे गङ्गा की

बहुतसीं धार अलग २ बहताहुईं भी अनेकों प्राणियोंको पवित्र करतीहुई समुद्र में जा मिलती हैं।

अन्तराऽपि तु तद्दृष्टे ॥ (वेदांतसूत्र)

रैक्य, वाचक्लवि आदि वर्णाश्रम के आचार से हीन पुरुष भी साधना करते २ ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हुए, यह बात शास्त्रों में देखीगई है। केवल वर्णाश्रम के आचार से हीन हिन्दू ही परित्राण पानेके अधिकारी हों ऐसा नहीं है, किन्तु किरात, यवन-आदि अनार्य जातियोंके पुरुष भी (कि-जो आर्यजातिके साथ सदा विद्रोह करते रहे और उनके धर्मानुष्ठान में विघ्न डालते रहे वह भी) एकसाथ धर्म के अधिकारसे वंचित या ईश्वर के परित्याज्य नहीं हैं, इस बातको भी वार २ कहा है जैसा कि-श्रीमद्भागवत मे लिखा है—

किरातहूणान्ध्रपुलिंदपुक्कसा-
आभीरकङ्का यवनाखसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः,
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द पुक्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि तथा और पापाचरणी पुरुष भी जिनका आश्रय लेकर शुद्ध होगए, उन विष्णु को मैं नमस्कार करता हूं।

इस परम उदारता की प्रतिकूलता करके कोई २ कदाचित् कहने लगेंगे कि-गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

इस भगवद्वाक्य के गूढ़ार्थ को विशद करके व्याख्या करने का इससमय अवसर नहीं है परन्तु इसका साधारण अर्थ करने पर भी भगवान् के कथन की उदारता के विषयमें जरा

भी सन्देह नहीं रहेगा। अर्थ यह है कि-अपने धर्मका विगुण अर्थात् अङ्गहीन अनुष्ठान भी अच्छा है, परन्तु परधर्म का सुचारु अनुष्ठान भी कल्याणकारक नहीं है, अपने धर्ममें मरण होजाना भी अच्छा है, परन्तु पराया धर्म भयदायक है।

इससाधारण अर्थमें भी भगवान्ने ऐसा नहीं कहा है कि-सब मनुष्य अपने२धर्मको छोड़कर हिन्दूधर्मावलम्बी होजायँ किन्तु भगवान् कहते हैं कि-हरएक मनुष्य अपने २ धर्ममार्ग के द्वारा अपनी उन्नति करे। तुम आर्य हो, आर्यधर्मके द्वारा ही तुम्हारी उन्नति होगी। तुम ईसाई हो तो ईसाई धर्मके द्वारा ही तुम्हारा उन्नति होगी। मुसल्मानों की मुसल्मानधर्म के द्वारा ही उन्नति होगी। पूर्व २ जन्म में अर्जित कर्मसूत्र के अनुसार विधाता ने जिसको जो धर्म दिया है वह उस धर्म में ही अपनी उन्नति करसकेगा। यदि दूसरे धर्ममें जन्म लेने से तुम्हारी धर्मोन्नति में सुभीता होता तो तुम्हारा जन्मनियन्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर तुम्हारा उस धर्म में ही जन्म होने की व्यवस्था करसक्ता था, लेख बढाजाता है और अधिक बातें कहने का अवसर नहीं है। केवल आजकल सनातन आर्यधर्म की अवनति होने के दो चार कारणों का उल्लेख करके इस भूमिका को समाप्त करते हैं। समय पाकर सब ही पदार्थों की उन्नति अवनति होती है। आर्यजाति की अतिउन्नतदशा युग २ में घटकर अन्तको आजकल कलियुगके समय में यवनादि जातियों के अत्याचार से उसके गौरव का सूर्य अस्तसा होगया है, उसके दो चार कारण नीचे दिखाते हैं।

प्रथम, तो भिन्नधर्मावलम्बी राजाके समीप वा राजकीय पाठशालाओं में आर्यधर्म का प्रशंसा नहीं है, किंतु निंदा और तिरस्कार है। इसलिये पढ़ने की अवस्था में ही हमारे देश के नवयुवाओं को आर्यशास्त्रसमुद्र में स्थित गम्भीरतत्त्वज्ञान से भरे धर्मपर सहज में ही अश्रद्धा उत्पन्न होजाती है।

दूसरे, हिन्दूधर्म के उपदेशदाता ब्राह्मण आजकल जीविका के लिए शास्त्रके व्यवहार को छोडकर निकृष्ट व्यवसायों का आश्रय लेनेलगे, इस कारण योग्य उपदेशकोंके अभाव से शास्त्र के गूढ अर्थ का प्रचार और उसका प्रतिष्ठा का अभावसा होगया है । इधर जो लोग वर्त्तमान राजा के मान्य क्रिश्चियन मत अथवा उस की नकल स्वरूप किसी सहज साध्य धर्मपर प्रेम और सनातन आर्य धर्म के साथ द्वेषभाव दिखाते हैं, वह आजकल की नई पश्चिमी ढंग की शिक्षा पाएहुए समाज में सन्मान पाते हैं और धन पैदा करनेमें सफल मनोरथ होते हैं ।

तीसरे, हिंदूधर्मके अनुष्ठान में अनेकों शारारिक और मानसिक तपस्याओं के करने का विधान है और नित्य नैमित्तिक याग, यज्ञ व्रत पूजा आदि में थोडा वहुत खरच भी होता है। परंतु ईसाई धर्म में या आजकल के और आधुनिक धर्मोंमें ऐसी व्यवस्था नहीं है। इसलिए जो स्वभाव के आलसी हैं, जिनके चित्त में धर्मभाव कम है, जो कंजूस हैं और जो आरामतलव हैं वह पुरुष स्वभाव से ही हिंदूधर्म के अनुष्टान में श्रद्धाहीन होते चलेजाते हैं ।

चौथे, भिन्नधर्मी लोग हरसमय सनातन आर्यधर्म की निंदा करके सुकुमारमति बालकों की बुद्धि भ्रष्ट करदेते हैं और केवल एकाध पुस्तक पढकर तथा एकवारमात्र गिरिजा आदि साधन मंदिरों में इकट्ठे हो उपासना करके मोक्ष पाने का अतिसहज मार्ग Royal Road दिखादेते हैं और शिक्षित पुरुषों को धर्मानुष्ठान न करते देखकर अन्य साधारण लोग भी शास्त्रकी आज्ञाओंसे द्वेषभाव सा रखतेहुए श्रद्धाहीन होते चलेजाते हैं ।

सार यह है-जिस का अनुष्ठान न करनेपर राजद्वार में या पूर्वोक्त प्रकारके शिक्षितसमाज में मानप्रतिष्ठा वा धन की प्राप्ति नहीं, किन्तु उलटा तिरस्कार

होता है । और जिसका अनुष्ठान न करनेमें तिरस्कार नहीं होता, किन्तु पुरस्कार मिलता है, उस शास्त्र वा धर्मकी यदि अवनति होतो इसमें आश्चर्य ही क्या है

क्रिश्चियनमतावलम्बी पुरुष अधिक बुद्धिमान् और ज्ञानसम्पन्न होने पर भी क्यों हिन्दुधर्म पर अश्रद्धा दिखाते हैं और द्वेषभाव रखते हैं, इसके कुछ एक कारण भी यहां दिखादेना उचित हैं।

प्रथम, कारण तो क्रिश्चियनों का हिंदूधर्मके ठीक २ स्वरूप को न समझना है । हिन्दूधर्म की मृतप्राय दशामें क्रिश्चियन लोग इस देशमें आये हैं । इसलिए कोई मुमूर्षु पुरुष किसी अपरिचित पुरुषको अपनी पाण्डिताई और प्रतिष्ठाका जितना परिचय देसकता है । अपरिचित क्रिश्चियन धर्मको भी हिंदूधर्म उस समय इससे अधिक परिनहीं देसका इसलिये क्रिश्चियनों ने आते ही जैसा देखा उससे सनातन आर्य धर्मको असार समझनेलगे ।

दूसरे, आजकल प्रचलित वाइविलके अर्थके अनुसार क्रिश्चियन लोगोंके चित्तपर जो कुसंस्कार जमगया है, वह इस अश्रद्धा का दूसरा कारण है । उन्होंने बालकपन से ही अपने शिक्षकों से यह उपदेश पालिया है कि-दूसरा जन्म नहीं होता, कर्मका फल मिलै ही यह कोई आवश्यक बात नहीं है और किसी भी प्रकार की साकार उपासना हो वह नरकगतिका अमोघ कारण है, ईसाइयोंके सिवाय और किसी की मुक्ति कभी हो ही नहीं सकती, । भगवान् एकवार ही जगत् के हित के लिये ईशुख्रिष्टके रूपसे अवतीर्ण हुए हैं,वह इस अनन्तकालमें और कभी अवतीर्ण नहा हुए, वाइविल में कहेहुए ६००० वर्ष से पहिले जगत् का अस्तित्व नहीं था।ऐसी कुसंस्कारोंकी अन्धता उनको और धर्मोंका मर्म समझने ही नहीं देती। द्वेषबुद्धि वा तिरस्कार के साथ

पदार्थ को आद्योपान्त देखने पर भी उसका सच्चा मर्म नहीं मालूम होसकता। क्रिश्चियन आदि भिन्नधर्मियों में के किसी भी उदारचित्त पुरुषने जिससमय द्वेष और तिरस्कार-बुद्धिको त्याग, अपने या दूसरों के धर्म पर किसीप्रकारका पक्ष-पात न करते हुए सनातन आर्यधर्म के तत्त्व की आलोचना की है उसी समय उसने इस मत का बड़ीभारी प्रशंसा की है।

तीसरे, पूजनीय वैष्णव और तान्त्रिकसम्प्रदायमें तथा अन्यत्र भी ऐसे दो एक नीचकर्मावलम्बी विभाग हैं कि—वह धर्मकार्यके नामसे अनेकों नीच और अपवित्र काम करते हैं। इस के सिवाय बहुतसे ब्राह्मणों में भी अनेकों कुसंस्कार ऐसे घुसगए हैं कि-उनको देखकर शिक्षित मण्डलीने विचारा कि—कुछदिनों सब-प्रकार से ऐसे कार्यों की प्रतिकूलता विनाकरे उन कुसंस्कारों का दूर होना कठिन है।

गृहस्थ पुरुषों के लिये घर और परिवार शान्ति और प्रीति का आलय है। परन्तु आजकल पीछे लिखेहुए अनेकों कारणों से उस एक ही परिवारमें कोई नास्तिक है, कोई अर्धनास्तिक है, कोई क्रिश्चियन है, कोई ब्रह्मसमाजी है, कोई आर्यसमाजी है और कोई इधर के हैं न उधरके हैं। इसलिए उस शान्ति मन्दिर में रातदिन अशान्ति और अप्रीति का गाढ़ प्रवेश रहता है। शास्त्र का उपदेश करनेवालोंके संस्कार, धर्मानुष्ठानके नाम से जो अनेकों कुसंस्कार या दुराचार हिन्दूसमाज की जड़में जापहुंचे हैं उनको दूर करना, स्त्रियों की सुशिक्षा का विधान, सामाजिक अनेकों कुरीतियोंको दूर करना तथा वेदादि शास्त्रों के पढने का विशेष प्रबन्ध जब तक ठीक नहीं होगा तबतक सनातन आर्यधर्म को पहिली सी प्रतिष्ठा मिलना एकप्रकार असम्भवसा है।

महासागर की गहरी तली में जाकर खोज करना अथवा हिमा-

लय का चूरा २ करके उसके भीतरके रत्नोंको निकालकर इकट्ठा करना जैसा अतिकठिन है, आर्य धर्मशास्त्रसमुद्र के गूढ तत्त्वों का संक्षेप के साथ प्रचार करना भी उतना ही कठिन और एकप्रकार असम्भवसा कार्य है। तथापि जिस से सनातनधर्मानुयायी आर्यों की संतान सहज में ही शास्त्र के अर्थ का कुछ एक मर्म समझ सकै, इस के लिए काशीस्थ सेंट्रल हिंदूकालिज के ट्रुष्टियों ने अंग्रेजी में जो एक सुदर संग्रह किया है, इस पुस्तक में उसी का हिंदी अनुवाद बा० गिरीशचंद्र दत्त के बङ्गला अनुवाद की सहा-यता लेकर कियागया है, और यह भूमिका भी उक्त बाबूसाहब की लिखी बङ्गला भूमिका का ही हिन्दी अनुवाद है, जिसके लिये बाबूसाहब को धन्यवाद देकर इस लेख को समाप्त किया जाता है।

मुरादाबाद
१५ जनवरी १९०७ } प्रकाशक



॥ ॐ तत्सत् ॐ ॥



श्रीशंकराचार्यविरचितम्

निरञ्जनाष्टकम्

स्थानं न मानं न च नादबिन्दू
रूपं न रेखा न च धातुवर्णम्।
द्रष्टा न दृश्यं श्रवणं न श्राव्यम्
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ १ ॥

जिसके स्थान, मान, नाद, विंदु, रूप, रेखा कुछ नहीं है, जिस के धातु या वर्ण नहीं है, जो देखनेवाला, दीखनेवाला, सुनना और सुनने में आनेवाला नहीं है, उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

वृक्षो न मूलं न च बीजकूलं,
शाखा न पत्रं न च वल्लिपल्लवम्।
पुष्पं न गन्धं न फलं न छाया।
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ २ ॥

जो सदानंदमय वृक्षरूप है, परन्तु जिसके मूल, बीज, शाखा

पत्र नहीं हैं, तथा लता, पुष्प, गंध, फल और छाया नहीं हैं, उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार है ॥ २ ॥

वेदो न शास्त्रं न च शौचसन्ध्ये
मन्त्रं न जाप्यं न च ध्यानध्येयम्।
होमो न यज्ञो न च देवपूजा,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ३ ॥

बेद, शास्त्र, शौच, सन्ध्या, मन्त्र, ध्यान, होम, यज्ञ और देवपूजादि क्रियावान् जो नहीं है, जिसको कुछ ध्यान करना वा जपना नहीं है, उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ३ ॥

अधो न ऊर्ध्वं न शिवो न शक्तिः,
पुमान् न नारी न च लिङ्गमूर्तिः।
ब्रह्मा न विष्णुर्न च देवरुद्र-
स्तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ४ ॥

जिसका नीचे ऊपर नहीं है, शिव, शक्ति नहीं है, पुरुष, प्रकृति वा लिङ्गमूर्त्ति नहीं है, न ब्रह्मा है, न विष्णु है, न जिसके रुद्रदेव है उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ४ ॥

अखण्डखण्डं न च दण्डदण्डं,
कालोऽपि जीवो न गुरुर्न शिष्यः।
ग्रहा न तारा न च मेघमाला,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरंजनाय ॥ ५ ॥

न जगत् का अंश काल दण्डपल है, न जीव है, न गुरु शिष्य है, न मेघमण्डल है, न ग्रह है और न नक्षत्रमण्डल है, उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

श्वेतं न पीतं न च रक्तरेतो,
हेमं न रौप्यं न च वर्णवर्णम् ।
चन्द्रार्कवन्हेरुदयं न चास्तं,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ६ ॥

न रक्त है न बीज है, न श्वेत है, न पीत है, न सोना है न चांदी है, यह सोम, सूर्य, अग्नि नहीं है, अतः इसका उदय अस्त भी नहीं होता, ऐसे निरञ्जन ब्रह्म को नामस्कार है ॥ ६ ॥

स्वर्गे न पंक्तिर्नगरे न क्षेत्र-
जातेरतीतं न च भेदभिन्नम् ।
नाहं न च त्वं न पृथक् पृथक्त्वात्,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ७ ॥

जो स्वर्ग, नगर या क्षेत्र में नहीं रहता है, जो जाति से अतीत है और जो पृथक् भी नहीं है तथा मैं, तू वह जिसका है, उस निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥

गम्भीरधीरं न निर्वाणशून्यं,
संसारसारं न च पापपुण्यम् ।
व्यक्तं न चाव्यक्तमभेदभिन्नम्
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ८ ॥

जो गम्भीर वा धीर नहीं, संसार का सारधन है, पाप पुण्य से असङ्ग व्यक्त और अव्यक्त नहीं है, तथा जिस के भेदभाव नहीं है, ऐसे निरञ्जन ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ८ ॥

ॐ तत्सत् ॥
॥ ॐ श्रीगुरवे नमः ॥

श्री-सनातनधर्मशिक्षा

अवतरणिका

मङ्गलं दिशतु नो विनायको, मङ्गलं दिशतु नः सरस्वती
मङ्गलं दिशतु नः समुद्रजा मङ्गलं दिशतु नो महेश्वरी १

श्री गणपति हमको मंगल दें, श्रीसरस्वती देवी हमको मंगल दें, श्रीलक्ष्मी जी हमको मंगल दें और भगवती महाशक्ति हमको मंगल दें

जो सबसे पुरातन धर्म है उसको 'सनातनधर्म' कहते हैं। (जो सत्य होता है वह अनन्तकाल तक वर्त्तमान रहता है, यह हिंदुओं का मान्य सत्यधर्म अनादिकाल के साथ २ चला आता है, इसी लिये इसका नाम सनातनधर्म है) इसकी मूल वेद है। वेदनामक पवित्र ग्रंथ अनेकों युग पहिले ब्रह्माजी को और फिर उनके द्वारा ऋषियों को प्राप्त हुआ था। इस धर्मका दूसरा नाम आर्यधर्म है, क्योंकि आर्यजाति की आदिम शाखा को ही यह पहिले प्राप्त हुआ था। आर्य शब्द का एक सूधा अर्थ है-प्रतिष्ठित। जो सकल जातियें जगत् के इतिहास की प्रथम अवस्था में वर्त्तमान थीं, उन की अपेक्षा इस जाति के लोग अधिक सुशोभन और सुचरित्र होने के कारण इस नामसे कहेजाते थे। आजकल जो देश भारतवर्ष वा इंडिया नाम से प्रसिद्ध है, इसके उत्तर भागमें आर्य लोगों ने प्रथम निवास किया था, इसी कारण वह भाग आर्यावर्त्त नाम से प्रसिद्ध है। मनुस्मृति में लिखा है कि-'हिमालय और विंध्याचल के बीचका जो भूखंड पूर्वसागर से पश्चिम सागर तक चला-

गया है, उसको पण्डित आर्यावर्त्त कहते हैं (१)।

समयानुसार यही धर्म हिन्दूधर्म नाम पाकर अब भी इसी नाम से पुकाराजाता है। आजकल जितने धर्म प्रचलित हैं, यह उन सब में अधिक प्रचीन है। इस धर्म में जितने प्रसिद्ध आचार्य, लेखक महर्षि, पण्डित, साधु, नृपति, रणवीर, राजनीतिज्ञ, दाता और स्वदेशहितैषी होगए हैं, वैसे और किसी संप्रदाय में देखनेमें नहीं आते। इस धर्मके तत्त्व को तुम जितना २ समझते जाओगे उतनी ही अधिक तुम्हारी इस धर्म पर श्रद्धा और प्रीति बढ़ती जायगी। उतने ही तुम इस धर्म में जन्म लेनेके कारण से अपने को कृतार्थ मानोगे। परन्तु पहिले इस धर्म के योग्य पात्र बनना होगा। इसके उच्च से उच्च तत्त्व में प्रवेश करनेका अधिकार विना पाए यह परम पवित्र धर्म तुम्हारा कुछ भी उपकार नहीं करसकेगा।

सनातनधर्मकी भित्ति-यह पुरातन धर्म अतिदृढ भित्ति पर स्थापित है। उसी भित्ति(नींव) के ऊपर इसके परकोटे की दीवारें बडी मजबूती के साथ बनी हुई हैं। वह अतिदृढ़ (खूबमज़बूत) भित्ति श्रुति नामसे और परकोटा स्मृति नामसे प्रसिद्ध है।

श्रुतियों को ऋषियों ने देवताओं से सुनकर पाया था, वह सब पवित्र वाक्य पहिले समय में कभी लिखे नहीं जाते थे। विद्यार्थी गुरुओं के मुखसे सुनकर ही अभ्यास करलेते थे और निरन्तर उस की आवृत्ति (बार२ पाठ) करते थे।

गुरु, शिष्यों के सामने श्रुतियों का गान करते थे, शिष्य उसी के अनुसार धीरे२ गानका अभ्यास करते थे। जबतक कण्ठस्थ नहीं होजाता था तबतक इसीप्रकार बराबर अभ्यास करते रहतेथे।

(१) आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ (मनु० २। २२)

आजकल भी श्रुतियें उसी पुरानी रीतिसे पढ़ीजाती हैं, तुम किसी वदिक पाठशाला में जाने पर उन श्रुतियोंके गान को सुनसकते हो।

चारों वेदोंका नाम श्रुति है। वेद शब्द का अर्थ है-ज्ञान अर्थात् जो जानाजाय। जो ज्ञान इस पवित्र धर्मकी नींव है, वह ही चारों वेद है। वह चारों वेद-ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नाम से कहेजाते हैं।

हरएक वेद तीन भागमें बँटाहुआ है। १-मन्त्र या संहिता। २-ब्राह्मण और ३-उपनिषद्। मन्त्रभाग में विशेष २ कर्मों के उपयोगी शृङ्खलाबद्ध मन्त्र हैं। मन्त्रों में जिस क्रम से शब्द रक्खे गए हैं उसके कारण उन मन्त्रों में एक विशेष शक्ति है, वह देवताओं की स्तुति के लिये गाएजाते हैं। देवताओं के साथ मनुष्यों का किसप्रकार का सम्बन्ध है, यह बात आगे दिखाई है। इन सब मन्त्रों का विधिपूर्वक यथार्थ उच्चारण कियाजाय तो यह फल दायक होते हैं। अनेकों प्रकार के यज्ञों में इन सब मन्त्रोंका प्रयोग कियाजाता है, और यदि इन सब मन्त्रों का उन यज्ञों में यथार्थ रीति से उच्चारण कियाजाय तो यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

वेद के ब्राह्मणभाग में यज्ञ की विधि का वर्णन। मन्त्रभाग में जो मन्त्र हैं, उन के प्रयोग की पद्धति इस भाग में वर्णन कीगई है, और अनेकों उपाख्यानों के द्वारा उन सब विषयों को स्पष्ट करदिया है।

सकल उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व विषय के अनेकों दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा कीगई है, इन सब ग्रन्थों में जीवात्मा और परमात्मा, मनुष्य और विश्व तथा बन्ध और मोक्ष के विषय की परम सुन्दर आलोचना कीगई है। यही सब दर्शनशास्त्रों की मूल हैं। जब तुम उच्च शिक्षा पाओगे, तब तुम इन सब उपनिषदों की आलोचना करके तृप्त होजाओगे। उच्च शिक्षा न पानेवाले साधारण पुरुषों को उनका समझना बहुत ही कठिन है।

पुराने समय में वेद का चौथा भाग वर्त्तमान था, उसको उपवेद वा तन्त्र कहते थे। उस में अनेकों प्रकार का ज्ञान और उस के प्रयोग की विधि का वर्णन था। आजकल उन मूलतन्त्रों में से बहुत थोड़ेसे लोक में प्रचलित हैं। ऋषियों ने आजकल उन सब शास्त्रों के अधिकारी न देखकर उनको जहां मनुष्य न जासकें ऐसे आश्रमों में रक्षा करके रक्खा है। आजकल वैदिक विधिके साथ में कर्मकाण्डसंबंधी थोड़ीसी तान्त्रिक विधि प्रचलित है। जो ग्रन्थ आजकल तन्त्र नाम से प्रसिद्ध हैं, वह वेद के अन्तर्गत नहीं हैं।

श्रुति का मत सब से अधिक मान्य है, उसको सनातनधर्म के सब ही सम्प्रदायों के लोग सर्वोपरि मीमांसा मानते हैं। सब सम्प्रदाय और सब ही दार्शनिक, श्रुति की मीमांसा को शिरोधार्य मानते हैं।

स्मृतियों और धर्मशास्त्रों की मूल श्रुति है। इसकारण इनसब का स्थान (दरजा) भी दूसरा है। स्मृतिशास्त्र प्रधानरूप से बड़े २ चार ग्रन्थों में लिखाहुआ है (१)

---

(१) मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनांगिराः ।
यमापस्तम्बसम्वर्त्तकात्यायनबृहस्पतिः ।
पराशरव्यासशंखलिखितदक्षगौतमाः ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥

इन श्लोकों में लिखी स्मृतियें आजकल भी प्रचलित हैं, उनमें मनुसंहिता ही प्रधान है। ऊपर जो चार स्मृतियों को प्रधान कहा है उसका कारण यह है कि—मनुसंहिता सत्ययुग के लिये याज्ञवल्क्य त्रेता के लिए, शंख लिखित द्वापर के लिये और पराशर कलियुग के लिये विशेषरूप से रचीगई हैं, अर्थात् इन चार में ही तिन २ युगों के धर्म विशेषरूप से कहे हैं, परन्तु तब भी वेदार्थ के अनुगामी होने से मनु हीं प्रधान है और मनुके प्रतिकूल जिस स्मृति में जो कुछ मत लिखा है वह नहीं मानाजासकता।

यह सब ग्रन्थ ऋषियों के रचेहुए हैं। स्मृतियों में मनुष्य २ के परिवार के, समाज के, जातिके और राजनीति के लिए अनेकों प्रकार के विधिनिषेध लिखे हैं। हिन्दूसमाज स्मृतियों की व्यवस्था के ऊपर ठहरा हुआ है, वह चार स्मृतियें यह हैं—

१ मनुस्मृति या मानव धर्मशास्त्र। २ याज्ञवल्क्यस्मृति।
३ शंखलिखितस्मृति। ४ पराशरस्मृति।

मनुस्मृति ही सब स्मृतियों में प्रधान है। इसमें सनातन आर्यधर्मकी सब व्यवस्था विधिविधान से लिखी है। मनुजी आजकल की आर्यजाति के प्रधान व्यवस्था देनेवाले हैं, हिन्दुओं के कालविभाग के अनुसार जगत्का इतिहास सात भागमें बँटाहुआ है। उन सात विभागों के आरम्भ और समाप्ति एक २ मनुके द्वारा निर्दिष्ट हैं, वह भाग मन्वन्तर नामसे कहेजाते हैं। मन्वन्तर शब्द से दो मनुओं के बीचका समय समझाजाता है।

स्वायम्भुव मनु के वंश में और भी महातेजस्वी छः मनु उत्पन्न हुए थे, उन्होंने अपने २ अधिकारके समय में सकल प्रजाओंकी सृष्टिकी है (१) इस से सिद्ध होता है कि -हम चौथे मन्वन्तर में वर्त्तमान हैं। यह विवस्वान्के पुत्र वैवस्वत मनुके अधिकार का समय है, उनकी कुछ व्यवस्थाएं मनुस्मृति में लिखीगई हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति भी मनुजी की प्रणाली के अनुसार ही रचीगई है। इस में भी मनुके अनुसार ही सकल विषयोंका वर्णन है। स्मृतियों की प्रधानता में इसका दूसरा स्थान है। शेष दो स्मृतियोंका विशेष व्यवहार नहीं है।

श्रुति और स्मृति जैसे सनातनधर्मरूपी किलेकी नींव और परकोटा स्वरूप हैं तैसे ही उसके अवलम्बनस्वरूप पुराण तथा इतिहास नामक और भी दो अङ्ग हैं।

---

[१] स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ म० १ ।

पुराणों में इतिवृत्त, उपाख्यान और रूपक के मिष से वेद के अर्थ की व्याख्या की है, जिनका वेद में अधिकार नहीं है, अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उनके निमित्त ही पुराण ग्रंथ रचेगए हैं, यह ग्रन्थ बड़े मनोरम और अनेकों विषयोंसे भरेहुए हैं। अनेकों रूपक ऐसे गूढ़ अर्थ से भरेहुए हैं कि-गुरु की सहायता के विना उनका समझना ही कठिन है।

इतिहास के दो पद्यग्रन्थ हैं। एक रामायण कि-जिसमें दशरथ-पुत्र श्रीरामचन्द्रजी, उनकी पत्नी सीता और श्रीरामचन्द्रजी के भ्राताओं का मनोरम उपाख्यान वर्णित है, जिसको कि-हिन्दू-धर्मावलम्बी प्रायः जानते हैं। दूसरा महाभारत है कि—जिसमें उत्तर भारत के कुरुराजवंश का इतिहास विशेषभाव से वर्णित है इस कुरुवंश की दो शाखा कौरव पाण्डवों के महायुद्ध का वर्णन ही इस में प्रधान है। उसके साथ २ में और भी बहुतसे मनोहर उपाख्यान और नीतिके विषय की कथाओं का वर्णन है।

रामायण और महाभारतके पढने से हमको प्राचीन भारतका आचार, व्यवहार, लोकचरित्र और शिल्प व्यापार आदि अनेकों विषयों का ज्ञान होसकता है।

यदि तुम इन बड़े २ दोनों ग्रन्थों को पढ़ोगे तो जानसकोगे कि-पहिले भारत की कितनी उन्नति थी और उसके साथ में ही यह भी जानसकोगे कि-भारत की पहिली सी उन्नत दशा के लिये किन २ साधनों की आवश्यकता है।

जैसे श्रुति और स्मृति तथा पुराण और इतिहास के द्वारा यह धर्मरूपी किला बनाया गया है, तैसे ही इस धर्म से सर्वाङ्गसुन्दर वैज्ञानिक और दार्शनिक अनेकों ग्रन्थोंकी उत्पत्ति हुई है।

विज्ञानके ग्रन्थ षडङ्ग नामसे कहेजाते हैं। उस षडंग को आज कल लोग लौकिक ज्ञानके ग्रन्थ समझते हैं। पुरातन समय में धर्मतत्त्व एक ही सूत्र में बँधाहुआ था। शिक्षाकल्प, व्याकरण,

निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह छः (षडङ्ग) हैं। व्याकरण शब्द-तत्व, ज्योतिष, चौंसठ कला, कल्पशास्त्र और शिक्षाके ग्रन्थ विज्ञान के अन्तर्गत समझेजाते थे। जो कोई षडङ्गको पढ़ते थे, उनको अनेकों प्रकारका गंभीर ज्ञान प्राप्त होता था।

दर्शन भी छः हैं। उन सब शास्त्रों की सहायता से सबप्रकार की वस्तुओं के द्वारा स्वरूप का दर्शन करनेकी शक्ति प्राप्त होजाती थी, इसकारण इन सब शास्त्रों का दर्शन नाम पड़ा है। सब ही दर्शनोंका प्रयोजन पुरुषार्थलाभ है। अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का नाम पुरुषार्थ है। परमात्मा और जीवात्मा का योग ही वह पुरुषार्थ है। इसका पहिला उपाय ज्ञानकी प्राप्ति है। परन्तु हरएक का मार्ग भिन्न २ है, वह मार्ग मनुष्यके अधिकार के अनुसार है, इसलिए षड्दर्शन को, एक स्थान पर पहुंचने के भिन्न २ छः मार्ग कहना अनुचित नहीं है।

इन ६ दर्शनों में जो कुछ है, उसमें से जितना तुमसे सुकुमार-मतियों के समझ में आसक्ता है, उतना ही यहां कहा है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने सकल पदार्थों का श्रेणीविभाग करके मीमांसा की है कि-मनुष्य इन सब वस्तुओं को प्रमाण के द्वारा जानसकते हैं। प्रमाण तीन प्रकारके हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (ऋषिवाक्य)। इसके अनन्तर यह पृथिवी किस प्रकार अणुपरमाणु से उत्पन्न हुई है, इस बात की मीमांसा कीगई है। फिर ईश्वरतत्त्व ही चरम और प्रधान ज्ञान है, इस बात की मीमांसा कीगई है।

सांख्य में नई रीति से विशेष विस्तार के साथ प्रकृति पुरुष के विषय की मीमांसा कीगई है।

योगशास्त्र में और शास्त्रोंमें कहेहुए दश इंद्रियों के अतीत अति सूक्ष्म अन्यान्य इंद्रियों के विषयका विचार किया है और

किसप्रकार यह सब इंद्रियें विकाश पाकर यथोचित कार्य में समर्थ होसकती हैं तथा उनकी सहायता से किसप्रकार परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होसकती है इसके उपाय का वर्णन किया है।

मीमांसा दर्शन में, पारलौकिक और व्याहारिक कर्म की मीमांसा की है और उनके कारण, स्वरूप तथा फल का भी निर्णय किया है, उस कर्मबन्धन में ही संसार बँधाहुआ है।

वेदान्त में ब्रह्ममीमांसा है। अर्थात् आत्मा का स्वरूप और जीव जो उस आत्मा का अंश है इस का निर्णय करके किसप्रकार कर्मबन्धन नहीं होसकता, इस की वेदान्त में भलेप्रकार मीमांसा की है। फिर जीव किसप्रकार ईश्वर की मायाशक्ति को जानकर योगबल से मोक्ष पासकता है, इसका वर्णन किया है।

प्रथम अध्याय

एक

पहिले एक अनन्त, अनादि, अव्यय सत् वस्तु ही था वही सब है, उस से ही सब उत्पन्न हुआ है, उस में ही लय होगा, वह एक और अद्वितीय है (१)

उस में जो था, है या होसकता है, वह सब ही है। जैसे समुद्र की तरङ्गें उठती हैं, तैसे ही यह जगत् प्रपञ्च भी उस सर्व की तरंगें है। जैसे समुद्र की तरंगें फिर समुद्र में ही मिलजाती हैं तैसे ही यह विश्वप्रपञ्च फिर उस में ही लीन होजाता है। जैसे समुद्र जल की राशि है, तरंगें उसकाही रूपमात्र हैं तैसे ही इस विश्व-

(१) सदेव साम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तस्मादसतः सज्जायते। (छान्दोग्य ६। २। १)

प्रपञ्च को भी उसका ही रूपपरिग्रह जानो, क्योंकि—यह सबही ब्रह्म है। (१)

यही धर्म का चरम सत्य है। मनुष्य ने सर्व के बहुत से नाम रखलिए हैं, सनातनधर्म में उसका नाम ब्रह्म है। अंग्रेजी भाषा में उसही का नाम गाड है। अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसी को 'गाड इन् हिज् अ्रान नेचर, (God in His own natur) कहतेहैं कभी२ हिन्दलोगों ने सर्व को निगुण ब्रह्म की उपाधि देकर उसके प्रकाशरूप वा साकाररूप का सगुण नाम रखदिया है। उस समय वह इस चराचर विश्वका महेश्वर है इस लिए धारणा के योग्य होता है।

सगुण और निर्गुण''सविशेष और निर्विशेष, ब्रह्म के यह दो भाव हैं। यह विषय बड़ा गहन है। बालक यदि इतना ही स्मरण रक्खें तो ठीक होगा कि-सगुण ब्रह्म निर्गुणब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

यह समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है सब ही उससे उत्पन्न हुआ है 'उसमें ही लीन होगा शान्त होकर उसकी उपासना करना चाहिये। पुरुष क्रतुमय [अध्यवसाय या भावनायुक्त] है, जो ऐसी भावना करता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर ऐसा ही होजाता है इसकारण ध्यान करना चाहिये।

केवल निर्गुण ब्रह्मका दूसरा भावमात्र है,वह उस समय सच्चिदानन्द विग्रह है,वही सत्पुरुष और सबका मूलकारण है। उसको पुरुषोत्तम भी कहते हैं। वह आत्मस्वरूप होकर मूलप्रकृति को प्रकाशित करता है। प्रकृति ही मूर्तिको ग्रहण करती है,उससे ही अनन्तों प्रकार के आकार उत्पन्न होते हैं। जो कुछ इन्द्रियों से

(१) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथाहुः क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुमान् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति क्रतुं कुर्वीत (छान्दोग्य। ३। १४। १

ग्रहण कियाजाता है, सब प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है आजकल जिनकी पुष्टि नहीं होपाई है ऐसे इन्द्रियोंसे अतीत अनेकों विषय भी प्रकृतिजात हैं रसायनवेत्ताओं के कठिन, तरल और भाफरूप सकल पदार्थ भी प्रकृति से ही उत्पन्न हैं। हम इधर उधर जो कुछ देखते हैं पहाड, पेड, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सब ही प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं परन्तु इन सब द्रव्यों के सब ही अंश प्रकृति से उत्पन्न नही हुए हैं, क्योंकि उनके प्रत्येक अणु में ईश्वर का अंश है, वह इन्द्रियों से नहीं जानाजासकता, हम प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सब अंशों को देह शरीर, कोश वा उपाधि कहते हैं। देही उसी आवरण से आच्छादित होकर प्रकाशरूप को धारण करता है, इसलिये वह सकल वस्तुओं में प्राणरूप से वर्त्तमान है। वह अजर अमर आत्मा सकल पदार्थों में स्थित होकर उनको चलाता है उसके विना कुछ ठहरे ही नहीं सकता प्रकृति के आवरण से आच्छादित हुआ उसका अंश जीव वा जीवात्मा नाम से कहाजाता है।

आत्मा और प्रकृति के भेदका निर्णय करते हैं मनुष्यकी सकल इन्द्रियोंका पूर्ण विकाश होनेपर प्रकृति का स्वरूप जाननेमें आता है परन्तु आत्माके स्वरूपका बोध नहीं होता, प्रकृति ही शरीर धारण करती है, आत्माका रूप नहीं है आत्मा ही चिन्ता करता है, अनुभव करता है और दर्शन करता है वही जीवन है, आत्मा ही अस्मदादिकों का अहम्भाव है। आत्मा सब पदार्थोंमें एक ही है जैसे जलमें पांच घड़ों को डुबाकर रखनेपर पांच घड़ोंके भीतर जल के अलग२ आकार धारण करलेनेपर भी सब जल एक है ठीक जैसा का तैसा है प्रकृति में चिंता आदि करने की शक्ति नहीं है, प्रकृति में चेतन पदार्थ नहीं है, जड़ में विभक्ति होने की चेष्टा है, इसलिए आत्मा और प्रकृति ही आदि द्वैतवस्तु हैं।

दोनों परस्पर विपरीत हैं, आत्मा ज्ञाता (जाननेवाला) और प्रकृति ज्ञेय (जानने योग्य) है।

छात्रों को यथाशक्ति इस भेद को जानने का यत्न करना चाहिये और यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि-इस आदि द्वैतभाव से जगत् उत्पन्न हुआ है।

आत्मा जैसे सत् चित् और आनन्दस्वरूप है तैसे ही प्रकृति भी तमः रजा और सत्त्वगुणमयी है। तमोगुणके कारण प्रकृति की दृढता और प्रतिरोध शक्ति, रजोगण के कारण गति और सत्त्वगुणके कारण नियम के अधीन होना है। तुम कहोगे कि पत्थर अपने आप नहीं चलसकता है, परन्तु विज्ञान को पढ़कर जानसकोगे कि पत्थर का हरएक परमाणु निरन्तर गमन करनेवाला है। वह गति बहुत ही शीघ्रता की और सुन्दर शृङ्खलाके साथ है, यह ही विज्ञान का स्पन्दन है। ईश्वरकी जिस शक्ति के बल से पदार्थ मूर्त्तिको ग्रहण करता है उसका ही नाम माया वा दैवी प्रकृति है भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—मेरी अपर उत्कृष्ट जीव नामक परा प्रकृति, जगत् की जीवनस्वरूप होकर इस जगत्को धारण कर रही है (१)।

यह पुरुष और मूल प्रकृति जगत् का आदि द्वैत रूप है। पुरुष प्रकाश और प्रकृति गुणस्वरूप है, दोनों ने एक दूसरे की परस्पर सहायता करके इस असंख्य मूर्त्तिस्वरूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया है, यह शक्ति माया है और ईश्वर मायानाथ है। सब बालकों को स्मरण रखना चाहिये कि भगवद्गीता को पढ़ने

(१) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽपराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ [गी० ७।४-५]

पर यह सब बातें भलाप्रकार मालूम होजाती हैं, और हरएक हिंदुसंतान को गीता अवश्य पढ़नी चाहिये। यहां यह बतादेना भी हम उचित समझते हैं कि—मूलप्रकृति और प्रकृति का एक ही अर्थ है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥
[गीता अ० १३]

जो ज्ञेय (जानने योग्य) है उसको अब मैं तुमसे कहूंगा, जिसको जानकर जीव मोक्षपद पाता है, उसको अनादि परब्रह्म जानो, उसको न सत् कहाजासकता है न असत् कहाजासकता है। १२। सबही शरीरोंमें उसके हाथ, पैर, नेत्र, शिर मुखादि सकल इंद्रियें विराजमान हैं क्योंकि वह सबमें व्याप्त होकर स्थित है ॥ १३ ॥ प्राणियों की सब इंद्रियों के साथ, उसका ताप और लोहे की समान संबन्ध होने `, जिस २ इन्द्रिय की जो शक्ति वा गुण है वह सब उसमें आरोपित होकर उसको कर्त्ता और इंद्रियों वाला मानते हैं, परन्तु वास्तवमें वह सब इन्द्रियों से रहित और किसी में लिप्त नहीं है, सबका धारण करनेवाला है, सत्वादि गुणों से

पर है और सब गुण उसके आश्रित हैं ॥ १४ ॥ वह चराचर सब प्राणियों के भीतर बाहर वास करता है, अत्यन्त सूक्ष्म होने से किसीके जानने में नहीं आता है, वह अज्ञानी की दृष्टि में दूर है परन्तु ज्ञानी जानता है कि–सब देहमें पुरा है ॥१५॥ वह प्रत्येक प्राणी में एक और अभिन्न है, परन्तु इन्द्रियादि उपाधियों के कारण भिन्न २ प्रतीत होता है, वह सबका पालक है, उस के होने से ही जगत् है, उसके बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं होसकती और उसमें ही सब जगत् विलीन होजाता है॥ १६ ॥ वह सूर्यादि ज्योतियों को भी प्रकाश देनेवाला परम ज्योति है, प्रकृतिसे पर है, ज्ञानस्वरूप और ज्ञेयस्वरूप और जड वस्तुओंकी सहायता से ज्ञान के गम्य तथा वही सब के हृदयों में विशेषरूप से स्थित है ॥ १७ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥
सोऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥
(मनु० १ अ०)

पहिले चारोंओर यह घोर अंधकार था, कुछ जाना हुआ नहीं था, कोई चिह्न नहीं था, तर्कना नहीं होसकती थी, जाना नहीं जासकता था मानो चराचर सब सोये हुये थे ॥५॥ तदनन्तर स्वयंभू अव्यक्त भगवान् महाभूतादि चौवीस तत्त्वोंमें प्रवृत्तवीर्य होकर इस संसारके रूपसे प्रकटित और उस अन्धकाररूप अवस्थाके नाशकरूप से प्रकाशित हुए ॥ ६ ॥ जो मनोमात्र ग्राह्य, सूक्ष्म सनातन-अचिंत्य अव्यक्त हैं, वही अनादि ईश्वर स्वयं सर्वभूतमय शरीराकार से प्रकट हुए ॥७॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

[गीता १० अ०]

हे अर्जुन मैं आत्मरूप होकर सदा सब भूतों के हृदय में रहता हूं । मैं ही सब की आदि, मध्य और अन्त हूं ॥ २० ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

(गीता १६ अ०)

जगत् में क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी) दो प्रकार के पुरुष हैं । जो स्थूल भूत भौतिक पदार्थ दीखते हैं, यह विनाशी होने से क्षर पदार्थ हैं और इन सब भौतिक पदार्थों की कारणस्वरूप मायाशक्ति, जो कारणरूप से सब पदार्थोंमें स्थित है उसको अक्षर पुरुष कहते है ॥१६॥ इन दोनों से पृथक् और एक प्रकार का पुरुष है, उसको चैतन्यस्वरूप परमात्मा कहते हैं, वह निरंतर इस त्रिलोकी में पुराहुआ होकर जीवात्मारूप से शरीर इन्द्रियादि के ऊपर प्रभुता करताहुआ, त्रिलोकीका पालन कररहा है। वह अव्यय और ईश्वर है ॥ १७ ॥ क्योंकि-मैं (आत्मा) क्षर और अक्षर से भी अतीत और श्रेष्ठ हूं, इस कारण लोक में और वेद में मुझको (आत्मा को) पुरुषोत्तम नामसे कहा है ॥ १८ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

(गीता १५ अ०)

जीवलोक में मेरे ही एक अंश सनातन ने मायावश जीवरूप

धारण किया है, उसने प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने से संसार में भोग के लिए मन आदि छः इन्द्रियों का साथ कर लिया है ७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३॥

(गीता १३ अ०)

सदा सब प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वर समभाव से स्थित है। ऐसे भाव से अविनाशी परमेश्वर को जो विनाशी पदार्थों में देखता है वही आत्माका दर्शन करता है ॥ २७॥ जब इन भिन्न२ प्राणियों को एक आत्मामें स्थित देखता है और एक आत्मा से ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानलेताहै,तबही जीव ब्रह्मभावको पाजाता है ॥३०॥ जैसे एकही सूर्य चराचर जगत् को प्रकाशितकरताहै तैसे ही एक आत्मा सकल देहों में बसकर उनको प्रकाशित करता है

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ४ ॥

(गीता ७ अ०)

मुझ चैतन्यस्वरूप आत्मा से विकाश को प्राप्त यह भिन्न २ आकृति के आठ प्रकार के प्रकृति पदार्थ हैं, यथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ॥४॥ हे महाबाहो! मेरा ही अभिन्न अंश और एक प्रकृति है, वह उस आठ प्रकार की प्रकृति से विशुद्ध है, जो कि-इस जगत् को धारण किएहुए है, उसका जीव नाम जानो ॥ ४ ॥

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
(गीता १४ अ०)

हे वीर ! प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सत्व, रज, तम, यह तीन गुण प्रसिद्ध हैं, यही अविनाशी देही को देह में बाँधदेते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीय अध्याय

बहुत

ईश्वर ने प्रकृति में प्रतिविम्बित होकर उसको अनेकों आकार में परिणत किया । उन सब मूर्त्तियों का प्रथम प्रकाश त्रिमूर्त्ति है उन तीनों मूर्त्तियों का प्रकाश इस ब्रह्माण्ड की घटना के लिए हुआ । ब्रह्माण्ड—ब्रह्म—अण्ड, यह ही विश्व की सुनियन्त्रित अवस्था है । ईश्वर ने जिस मूर्त्ति को ग्रहण करके जगत् की सृष्टि की उसका नाम ब्रह्मा हुआ । जिस मूर्त्ति से उन्हों ने इस जगत् का पालन किया उसका नाम विष्णुमूर्त्ति हुआ । और जब ब्रह्मांड जीर्ण होकर व्यवहार के अयोग्य दशाको प्राप्त होगया, उस समय जिस मूर्त्तिसे उन्हों ने इस को लीन करके फिर विकाश के उपयोगी बनाया, वह मूर्त्ति शिव वा महादेव नामसे प्रसिद्ध हुई । शिव प्रलयकर्त्ता हैं । यह त्रिमूर्त्ति ही ईश्वर का प्रथम प्रकाश है । वह एक अर्थात् सगुण ब्रह्म इन तीन प्रकाशों में प्रकाशित हैं ।

ब्रह्मा ने प्रकृति को सात तत्त्वरूप से परिणत किया, उनको महाभूत कहते हैं । पहिले दो के भिन्न २ नाम रक्खेगए हैं । हम सुगमता के लिए उनका महत् बुद्धि और अहङ्कार शब्दसे व्यवहार करसकते हैं । अहङ्कार विश्लेषण (अलग २ करनेवाली) शक्ति है । इस से प्रकृति अति सूक्ष्म परमाणुरूप में विभक्त होती है । अन्य पञ्चतत्व क्रमसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी, नामसे, कहेजाते हैं । यह सृष्टि भूतादिसृष्टि नामसे कही

जाती है । इस ही को लेकर सब वस्तुएं कुछ २ परिमाण में रची गईं इन सब भूतों में सत्व और रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण अधिकताके साथ है । इसीलिए सकल भौतिक पदार्थ प्रधानरूप से जड प्रकृतिमय हैं । जीव इस आवरण को हटाकर सहज में ही अपनी शक्ति को पूर्णरूप से प्रकाश करसकता है ।

भूतसृष्टि के अनन्तर इन्द्रियों की सृष्टि हुई । पहिले यह सब ब्रह्मा के मन में भावरूप से वर्त्तमान था, अन्तमें भौतिक आकार धारण किया । सब इन्द्रियें ज्ञानशक्ति का केन्द्र हैं । चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा, यह क्रमसे दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन और स्पर्श का द्वारमात्र हैं । तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ यह पञ्च कर्मेन्द्रिय अर्थात् पाँच प्रकार के कर्म के द्वारस्वरूप हैं । इन सब इन्द्रियों में सत्व वा तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण की ही अधिकता है ।

इन्द्रियों की सृष्टि के अनन्तर ब्रह्माने अपने मानस से इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं की तथा मनकी सृष्टि की । मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ छठा और दश इन्द्रियोंके अधिपति रूपसे ग्यारहवीं इंद्रिय गिनाजाता है । इसकी ही सहायतासे बाहरी जगत्की सकल वस्तुओं से इंद्रियोंके उपयोगी द्रव्य पसंद और ग्रहण किए जाते हैं । इन सब देवताओंमें और मनमें रजोगुण तथा तमोगुण की अपेक्षा सत्वगुण की अधिकता है ।

छात्रोंको जान रखना चाहिये कि—तीनों गुण परस्पर स्वतन्त्र होकर नहीं रहसकते, परन्तु किसी पदार्थमें किसी गुणकी प्रधानता देखने में आती है और किसीमें किसी की । जिसमें तमोगुण की अधिकता होती है उसको तामसिक कहते हैं, रजोगुण की अधिकतासे राजसिक और सत्वगुण की अधिकता से सात्विक कहते हैं, सबही द्रव्य इन तीनोंमें से किसी न किसी विभाग में हैं ।

तदनन्तर ब्रह्माके मानस से देवताओंकी उत्पत्ति हुई । उन्होंने

ईश्वर की विधिके वशीभूत होकर संपूर्ण जगत् की यथोचित रीति से रक्षा की। एक ईश्वर ही सब का अधीश्वर है, देवता उसके मंत्री हैं। छात्रों! ईश्वर और देवता शब्द के भेदको न भूलना, ब्रह्मा और देवताओं को एक न समझ बैठना। देवता इस ब्रह्मांड को परिचालन करनेके लिये उसके ऊँचे दरजे के कर्मचारी स्वरूप हैं। हम मनुष्य पृथिवी पर उसके ही नीचे दरजे के कर्मचारी हैं।

देवताओं का दूसरा नाम सुर है। वह हरएक मनुष्य को कर्मानुसार फल देते हैं। मनुष्यों की कर्मानुसार उन्नति वा अवनति का भार उनके ही हाथ में है। वह मनुष्यों की अनेकों उपायों से सहायता करते हैं। मनुष्यों के सकल कर्त्तव्य उनके ही प्रति होते हैं उन देवताओं का तिरस्कार होनेपर अकालमृत्यु, पीड़ा, दुर्भिक्ष आदि अनेकों दुर्घटनाएं होने लगती हैं, देवताओंकी संख्या अनेक हैं

वह पांच श्रेणियों में होकर पांच अधिपतियों के अधीन हैं। वह पांच अधिपति—इन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण और कुवेर हैं। यही पांचों पञ्चभूतोंके स्वामी हैं, इन्द्र—व्योमपति, वायु—मरुत्पति, अग्नि—तेजस्पति, वरुण—जलाधीश और कुवेर—क्षितिपति हैं। इन पांच अधिपतियों के अधीन गणों के भिन्न २ नाम इतिहास पुराणों में देखने में आते हैं। भीम ने कुवेर के अनुचर यक्षों के साथ युद्ध किया था, यह कथा तुमने महाभारत में पढ़ी होगी।

यह देवता रजोगुणप्रधान हैं। मनुजी ने, कर्म को ही इनकी प्रधान प्रकृति कहा है। असुर देवताओं के शत्रु हैं, वह प्रकृति की जड़ता वा बाधकभाव की प्रतिमूर्त्ति और तमोगुणप्रधान हैं।

तदनन्तर ब्रह्मा के मन से स्थावर, उद्भिद, पशु, पक्षी आदि अन्य सकल जीव और मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। इसप्रकार जीवशक्ति का जिसप्रकार क्रमसे विकाश हुआ, उसका क्षेत्र प्रस्तुत होगया। संस्कृत शास्त्र में इस जगत् के क्रमविकाशचक्र का संसारचक्र नाम रक्खा है। इस संसारचक्र में ही सब जीव बँधे हुए हैं।

इसप्रकार ब्रह्मा का सृष्टिकार्य समाप्त होगया तब भी इन सब मूर्त्तियों के भौतिक देह का अभाव था। यह काम विष्णुके करने से ठीक हुआ, वह सब के स्थितिकर्त्ता और रक्षाकर्त्ता हैं। पुराणों में लिखा है कि—उन्होंने प्राणरूप से सब में प्रवेश किया परन्तु इतने ही से काम न चला, मनुष्य की उत्पत्ति होने के अनन्तर ईश्वर की तीसरी मूर्त्ति महादेवजी ने उन में अपनी जीवनीशक्ति डालकर पूर्ण किया। मनुष्य भावात्मक ईश्वर के पूर्ण प्रतिबिम्बरूप से प्रकाशित हुआ। मनुष्य जीव पहिले २ कल्प में स्थावर उद्भिद और पशु आदि शरीरों में घूमकर इतने दिनों में मनुष्य शरीर को ग्रहण करके क्रमविकाश को प्राप्त होनेलगा। इस क्रमविकाश का सुन्दर वर्णन ऐतरेय आरण्यक में है। इस कथा को योग्य छात्र उस ग्रन्थ में तथा उच्चश्रेणी के पाठ्य सनातधर्म पुस्तक में देखेंगे।

विष्णु के विशेष अवतारों का वर्णन करना भी यहां आवश्यक है। अवतार कहने से वह अवतीर्ण हुए थे यही समझना होगा किसी विशेष प्रयोजन को साधने के लिए उनको उस कार्य को साधने का उपयोगी जो देह धारण करना पड़ता है, वही अवतार नामसे कहाजाता है। जिससमय पृथिवी पर किसीप्रकार की भी विशृंखलता (गड़बड़ी) होती है और जगत् की उन्नति का काम ठीक २ चलने में किसी प्रकार भी बाधा पड़ती है, उसी समय भगवान् मूर्त्ति धारण करके फिर सुशृंखला स्थापित करदेते हैं।

उनके अवतार असंख्यों हैं, उन में १० अवतार प्रधान और प्रसिद्ध हैं—

१। मत्स्य—वैवस्वत मनु ने एकसमय तीर्थ में एक छोटीसी मच्छी को देखकर उसको एक जल के पात्र में रक्खा। मत्स्यके बढजाने पर जब वह उस पात्र में न समासका तो उसको एक बड़े पात्र में, फिर क्रम २ से बावड़ी, सरोवर, नदी और अन्त में

सागर में रखने पर भी उस मत्स्यने बढ़कर आधार को भरदिया तब अन्त में मनु ने समझा कि-इस मत्स्य का मेरे जीवनसूत्र के साथ सम्बन्ध है। अतएव प्रलय के जल में बीज की रक्षा करने के लिये एक नौका बनाकर ऋषि और सकल जीवों के बीजको उस में रखलिया, उससमय उस बड़ेभारी मत्स्य ने उस नौका की रक्षा करते हुए मनुको नए जगत् में स्थापित किया, यही जीवसृष्टि का प्रथम आरम्भ हुआ।

२। कूर्म-विष्णु ने कूर्मावतार में पीठपर मन्दराचलको धारण करके भूतसागर को मथा। उसमें से प्रयोजन की सकल वस्तुएं उत्पन्न हुईं, कूर्मावतार जीवसृष्टि की दूसरी तरङ्ग है।

३। वराह-विष्णु ने वराहावतार में पृथिवीका उद्धार किया यह अवतार स्तन पीनेवाली जीवसृष्टिका आदि आदर्श है, इस समय से जीवों ने सूखी भूमि में बसना आरम्भ किया। नया विज्ञान जो जीवसृष्टिकी तीन तह मानता है, वह हिन्दूधर्म में कहे हुए इन तीन अवतारों में से सूचित होती हैं।

४। नृसिंह-इस अवतार में भगवान् ने धराको दैत्यके अत्याचार से मुक्त किया। दैत्यवंशमें एक प्रल्हाद नामक बालक उत्पन्न हुआ था। वह बालक परम विष्णुभक्त था। वह अपने पिता के बहुत सी पीड़ा देनेपर भी भक्ति से चलायमान नहीं हुआ। जब पिताने उसको बहुत ही कष्ट दिया तब भगवान् ने खम्भे फाड़कर नृसिंह स्वरूपमें प्रकट हो उस दैत्यराज का विनाश किया।

५। वामन-अन्तमें उन्होंने वामन मूर्त्ति धार मनुष्यसृष्टि की सहायता करके बलिसे तीन पग भूमि भीख माँगनेके मिषसे त्रिलोक को लेकर मनुष्यकी उन्नति के क्षेत्र को निष्कण्टक कर दिया।

६। परशुराम-भगवान् ने परशुराम अवतारमें दुर्दान्त क्षत्रियों को दण्ड देकर उनको यह शिक्षादी थी कि यदि अत्याचारी अपनी शक्ति का दुर्व्यवहार करे तो उसका मङ्गल नहीं होता है।

७। श्रीराम-भगवान् ने दशरथ कुमार श्रीरामचन्द्ररूपसे अवतीर्ण होकर तीनों भ्राताओंके साथ क्षत्रियोंके और राजाओंके आदर्श स्वरूपमें अपना प्रकाश किया था। वह पूर्ण मनुष्य के दृष्टान्तरूप से विराजमान थे। श्रेष्ठ सन्तान, श्रेष्ठ पति, श्रेष्ठभ्राता, श्रेष्ठ वीर और श्रेष्ठ नृपति रूपसे वह प्रजापालक रूपमें वर्त्तमान थे, अतः वह मनुष्यजीवन के पूर्ण आदर्श हुए। वाल्मीकि रामायण में उनकी जीवनी सुचारुरूप से गाईगई है। तुलसीदास जी की हिन्दीभाषाकी रामायण उत्तर पश्चिम भागमें और कृत्तिवास की बंगभाषा की रामायण बंगाल के घर२ में राममाहात्म्य का प्रचार करती है।

श्रीकृष्ण-यह भगवान् का प्रेमावतार है। वह इस मूर्त्ति में असंख्यों भारतवासियों के पूज्य हुए। ब्रजमें और वृन्दावन में वह अद्भुत बालकरूपधारी, अर्जुन के सखा, पाण्डवों मन्त्री और भीष्म के परम आराध्य हुए। भारतवर्ष में ऐसा कोई बालक भी नहीं होगा जो श्रीकृष्णकी कथा को न जानता हो। वह महाभारत ग्रंथ के मध्यमणि हैं। अनेकों पुराणोंमें उनकी जीवनी सुन्दर रूपसे वर्णित है।

९। बुद्ध—इस अवतार में राजपुत्र होकर भी उन्होंने राजसिंहासन और सुख सम्पदा को त्यागकर भिक्षुक वेशमें धर्मका प्रचार करतेहुए देश २ में भ्रमण किया था। उनका परिचय शाक्यमुनि, गौतम और सिद्धार्थ नामसे मिलता है। बौद्ध धर्म के वह आदिप्रचारक हुए। आज भी करोड़ों मनुष्य उस धर्मके अनुयायी हैं। इसरूप में भगवान् ने, बहुतसी अनार्यजातियों को धर्ममार्ग में प्रवृत्त किया था।

१० कल्कि-भगवान् कल्कि अवतार धारकर कलियुग का समाधान करेंगे। उनके आगमन के अनन्तर फिर सत्ययुग के साथ नए महायुग का प्रारम्भ होगा।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
(गीता ११ अ०)

हे देव ! आपके देह में सकल देवताओंको, असंख्यों प्राणियोंको दिव्य ऋषियोंको, नागोंको, महादेवको और कमलासन पर विराजमान ब्रह्माजी को देखरहा हूं॥ १५ ॥ रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्‌गण ऊष्मप आदि पितर, गन्धर्व, यक्ष सुर और सिद्ध, यह सब ही विस्मित होकर आपकी ओर को देखरहे हैं॥ २२ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋक् १। १६४। ४६

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि सब उसको ही कहते हैं, वह सुपर्णपक्षधारी गरुत्मान् है। इसप्रकार मुनिजन अनेकों प्रकार से उसका मातरिश्वा, अग्नि और यम आदि वाक्यों से गान करते हैं॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥११९॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १२३॥
[मनु० १२ अ०]

निःसंदेह सकल देवता आत्मस्वरूप हैं और सब आत्मा में स्थित हैं ११९ कोई उसको अग्नि कहता है, कोई मनु प्रजापति कहता है, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शाश्वत ब्रह्म कहता है, वास्तवमें उस एक ने ही बहुत से रूप धारण किये हैं॥ १२३॥

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियान्ति

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि॥
(मुण्डकोपनिषत् २। १। १—७)

जैसे प्रज्वलित अग्निमें से एकसी सहस्रों चिनगारियें निकलती हैं, तैसे ही, अक्षर परमात्मा से असंख्यों भाव प्रकट होते हैं और फिर उसी में लीन होजाते हैं॥ उसी अक्षर से प्राण, मन, सकल इंद्रियें, आकाश, वायु, ज्योति, जलतत्व और विश्व का धारण करनेवाली धरित्री उत्पन्न होती है॥ उससे ही देवता सिद्ध मनुष्य और पशु, पक्षी अनेकों आकारों को धारण करते हैं॥

सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः। १८।
(गीता १४ अ०)

सत्वगुण से ज्ञान और रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, तथा तमोगुणसे प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है॥१७॥ सत्त्वगुणी मरणके अनन्तर ऊपर देवलोक में जाते हैं, रजोगुणी प्रकृति के मध्यमें विचरते हैं और जो तमोगुणी नीच प्रवृत्ति में रहते हैं वह मरकर पशुयोनि में जन्म लेते हैं॥ १८॥

सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
(गीता १४ अ०)

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुख से मेल कराता है, रजोगुण कर्मबंधन में डालता है और तमोगुण ज्ञानशक्ति को ढककर देहीको प्रमाद में बांधकर डालदेता है ।९। हे भारत ! कभी रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण विशेषरूप से प्रकट होता है । कभी सत्त्व और तमोगुण को दबाकर रजोगुण सब से अधिक बढ़जाता है और कभी सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण प्रबल हो उठता है ॥ १० ॥ जिस समय इस शरीर में सब द्वारों में ज्ञानमय प्रकाश का दर्शन हो उस समय सत्त्वगुण को बढ़ाहुआ जानो ॥ ११ ॥ हे अर्जुन ! जिससमय देह में प्रवृत्ति, अशान्ति और लोभ का उदय हो, कर्मका आरम्भ हो और इच्छा उत्पन्न हो, उस समय रजोगुण की वृद्धि हुई जानो ॥ १२ ॥ जिस समय प्रकाश का नाश हो, उद्यम का अभाव हो, झूठी बातें सच्ची मालूम हों प्रमाद हो और सदा झूठी बातों में मन लगैं, उस समय तमोगुण को बढ़ाहुआ जानो ॥ १३ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
(गीता ४ अ०)

हे अर्जुन ! जिस समय धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तभी मैं अपने को सृजता हूं अर्थात् अवतार धारण करता हूं ॥ ७ ॥ मैं युग २ में धर्म के कारण अवतार धारकर दुष्टों का नाश और साधुओं की रक्षा करता हूं ॥

तृतीय अध्याय

पुनर्जन्मतत्त्व

पहिले अध्याय में क्रमोन्नति की बात कहचुके हैं । जीवात्मा एक देह से अन्य देह में घूमता हुआ क्रमोन्नति पाता है इस अन्य देह में जानेका वा भ्रमण के व्यापार का ही दूसरा नाम पुनर्जन्म है । फिर स्थूल पञ्चभूतात्मक देहको ग्रहण कियाजाता है इसकारण पुनर्जन्म कहते हैं । यह पुनर्जन्म क्या रहस्य है इसकी कुछ आलोचना करते हैं ।

जीव ब्रह्म का अंश है । भगवान् गीता में कहगए हैं--

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

जीव में सकल ब्रह्मशक्तियें वर्त्तमान हैं, अतएव जीव ब्रह्म है वेद कहता है-" तत्त्वमसि " तू ही वह ब्रह्म है । परन्तु तो भी देशकाल के कारण भेद है । बीज वृक्ष का अंश होने पर भी, वृक्ष होने की शक्ति रखने पर भी, बीज दशा में वह बीज ही है, वृक्ष नहीं है । बीजने वृक्ष को उत्पन्न किया है । बीज में वृक्ष की प्रकृति और शक्ति प्रच्छन्नरूप से वर्त्तमान है । वृक्ष से बीज अलग होकर धीरे २ बढ़ता है और क्रम से अपनी गुप्तशक्तियों का प्रकाश करता है, अन्त में अपने जनक के तुल्य वृक्षरूप से परिणित होता है । बीज में और कुछ होने की शक्ति नहीं है । क्योंकि- उस में जनक का स्वभाव प्रच्छन्नरूप से वर्त्तमान है । जीव के विषय में भी यही बात कहीजासकती है । जीव ईश्वर से, बीजकी समान प्रकृतिक्षेत्र में पड़ने पर क्रम २ से बढ़ कर, प्रच्छन्न शक्तियोंका प्रकाश करते२ क्रम से ईश्वरत्व को ही पाजायगा । वह अन्य कुछ हो ही नहीं सकता । उस में अपने जनक के सकल गुण प्रच्छन्नरूप से स्थित हैं ।

ईश्वर ज्ञानमय और सर्वशक्तिमान् है, परन्तु जीव अज्ञ तथा शक्तिहीन है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजाह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विंदते ब्रह्ममेतत्

वह शक्तिहीन और अज्ञ जीव, क्रमविकाश के वश ज्ञान और शक्ति की वृद्धि के द्वारा क्रम से स्वरूपलाभ करेगा।

पीछे कहचुके हैं कि--जीव भौतिक आवरण से आच्छन्न हो कर सबसे पहले स्थूल जगत् में प्रवेश करता है। उस समय वाह्य जगत्के विषयमें उस को कुछ ज्ञान नहीं होता है। बाह्यजगत् के घटनाचक्र से पीड़ित होनेपर क्रमसे उसका वह ज्ञान और तद-नन्तर उसके अपने अस्तित्व का ज्ञान उद्दीप्त होनेलगता है। भूकंप ज्वालामुखी पहाड़ोंका प्रस्रवण, भूमङ्ग आदि भयङ्कर बाह्यजगत् की शक्तियों की टक्करों से जीवका क्रमसे बाहरीज्ञान उद्दीप्त होता है, क्रम से जीव समझता है कि--वह अकेला नहीं है, बाहर और भी अनेक हैं। पाठक भूमण्डल की प्रथमावस्था के इतिहास को पढ़ने पर देखेंगे कि --उस समय इस प्रकार की भयानक घटनाओं की बहुत अधिकता थी, क्योंकि—उस समय बालक आत्मा को चितौनी देने के लिए इन सब घटनाओं का प्रयोजन था। बहुत समय तक ऐसे घात प्रतिघातों की सहायता से जीव कुछ प्रबुद्ध होकर क्रमशः धातु से कोमल देह पाने का उपयोगी हुआ और उद्भिद देहको धारण किया तथा ईश्वर से धारावा-हिक क्रम से आयेहुए नए जीवात्मा ने धातुजगत् में उस के स्थान पर अधिकार जमाया।

तदनन्तर उद्भिद देह में स्थित जीवात्मा वार २ बाहरी जगत् के संसर्ग से अधिकतर प्रबुद्ध होकर तीक्ष्ण सूर्य की किरणें, मधुर मन्द पवन, अतिचिक्कण जलपतनका अनुभव करते २ कुछ अधिक

बाहरी ज्ञान पाकर क्रमसे कुछ और दीर्घजीवी गुल्मलता आदि का आश्रय करके अधिकतर शक्तिका विकाश करनेलगा। अन्तमें ऐसे क्रमविकाश के द्वारा प्राणी जगत् में प्रवेश करने का उपयोगी होने पर उद्भिद्रूपी जीवात्माने प्राणी का शरीर पाया। धातुराज्य से नए जीवने आकर उद्भिद राज्य में उसके स्थान पर अधिकार कर लिया और ईश्वर से नए जीवात्माने आकर धातुदेहको ग्रहण कर पूर्वोक्त जीवात्माओं के छोड़े हुए स्थानों पर अधिकार जमाया।

प्राणी शरीर को पानेपर जीवात्मा के विकाशका काम बहुत शीघ्र होने लगता है। उसके लिए या कलहवृत्तिको चरितार्थ करने के लिए परस्पर के युद्ध और बुद्धि के द्वारा तिरस्कार करने की चेष्टा में उनकी इन्द्रियशक्ति और सामान्य मानसिक शक्ति की उत्तरोत्तर स्फूर्ति होती है। अन्त में पशुशरीर उनके क्रमविनाश का अनुपयोगी होजाता है तब मनुष्य देह को पाकर वह क्रम-विकाश की उच्च सीढ़ी पर चढ़ते हैं।

पाठक जिज्ञासा करसकते हैं कि-'किसप्रकार निभिन्न देह, जीव की अपनी शक्तिके अनुरूप होताहै ? इसका उत्तर यह है कि जीवकी अपनी आन्तरिक चेष्टा ही इसका कारण है। जिस भौतिक आवरण से वह ढकाहुआ, उसको हटाकर वह जो विषय अधीन नहीं हैं, उनको अपने वशमें करता है। देखनेकी इच्छा होनेपर बहिर्मुखी दृष्टिशक्ति बाहर के आवरण को धीरे२ भेदकर चक्षुगोलक को निभिन्न करती है और २ इन्द्रियों का विकाश भी इसी प्रकार होता है। सकल इन्द्रियें जीवकी बहिर्मुख प्रवृत्तिके वशमें हो भीतर से बाहर आकर प्रकाशित होती हैं इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता अपने देह में स्थित और तिन २ कार्योंके उप-योगी तत्त्व देकर तिन कार्यों में सहायता करते हैं। जिस समय देखने की प्रबल इच्छा होती है, उस समय अग्नि उसको अपना आग्नेय तत्त्व अधिकता के साथ देता है, तब वह आलोकरश्मि

का प्रकम्पन होनेपर प्रकम्पित होसकता है और उसमें दर्शन के ज्ञानकी उपयोगी वाहर की इन्द्रिय उत्पन्न होती है। स्वाद लेने की इच्छा जन्मनेपर वरुणदेव, अपने जलतत्त्व में से जलीय उपादान देकर स्वाद ग्रहण करने में उपयोगी बाह्य इन्द्रिय को उत्पन्न करते हैं ऐसे ही उसका देह क्रमसे इच्छा और प्रयोजन के अनुसार गठित होजाता है जब एक देह क्रमोन्नतिके अनुपयोगी होजाता है तब जीवात्मा उस देह को त्यागकर अन्य देह को ग्रहण करलेता है उसका विकाश क्रम२से बहुत शीघ्र सिद्ध होने लगता है। क्योंकि सकल प्रच्छन्न शक्तियें जितनी अधिक स्वाधीनभाव से कार्य करने की उपयोगी होती हैं, उतना ही जीव इंद्रियोंकी पटुता के कारण शीघ्र २ अभीष्ट फल पाकर बहुत ही शीघ्र प्रबुद्ध होजाता है, यह ही क्रमविकाश का साधारण नियम है।

पाठक जिसमें पुनर्जन्म का मूलतत्त्व सहज में समझसकें इस आशासे क्रमविकाशके दरजे स्थूलरूप से ऊपर कहदिये वास्तव में क्रमविकाशका तत्त्व इसकी अपेक्षा बहुत ही गहन है और जीव की क्रमोन्नतिमूलक संसारवृक्षकी अनेकों शाखाओं से युक्त तथा अनंत है। जीवकी क्रमोन्नतिमार्गके विशिष्टसोपानसे भी गिरजानेकी सम्भावना है और कभी २ उसको बहुत दिनों तक एक अवस्थामें रहना भी पड़ता है। किसी शक्तिका विकाश नहीं हुआ है या कुछ सीखनेको शेष है, उस शक्ति वा उस ज्ञान को पाने के लिए उसको फिर, स्कूल में बेमन से जानेवाले छात्र की समान नीचे के दरजे में उतरकर आना पड़सकता है। इस प्रकार मनुष्य को पशु देह वा उद्भिद देह, यहांतक कि–अत्यन्त तामसिक स्वभाव होने पर पत्थर का शरीर भी धारण करना पड़ता है। पहिले मनुष्य देह का ठीक २ व्यवहार न करनेके कारण उस नीच शरीर में कुछ दिनों जेलखाने से में बन्द रह-

कर जीवात्मा को भविष्यत् में मनुष्य देहके यथोचित व्यवहार की आवश्यकता मालूम होती है। उच्च शक्तिवाला जीवात्मा, नीच विकाश के उपयोगी देह में बँधकर, इस देहबन्धन को कारागार में बसने के तुल्य समझने लगता है। उस समय स्वाधीनता न होने से, मानवशक्ति का विकाश करने की उपाधि न होने से उसको बड़ा ही कष्ट होता है।

परन्तु जीव चिरकाल तक इस जन्म मरण के चक्र में बँधा न रहैगा, केवल वासनारूपी रज्जु के द्वारा इस चक्र में बँधा हुआ है जबतक पार्थिव वासना रहेगी तबतक भूतल पर आना जाना बन्द नहीं होगा परन्तु वासना का नाश होने पर फिर बन्धन नहीं रहताहै, तब ही जीव मुक्ति पाता है। फिर जन्म लेने का प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि उससमय वह मुक्त जीव है।

प्रायः मुक्तात्माजन दूसरों को मोक्ष प्राप्त होने में सहायता करने के लिए (कर्मवश नहीं) इस जगत् में देह धारण करते हैं। ऐसे ही मुक्तात्माओं का विवरण हम पुराण इतिहास आदि में पाते हैं। वह कहीं ऋषि कहीं राजा और कहीं साधारण मनुष्यरूप से होते हैं। परन्तु बाहरी मूर्त्ति में चाहे सो क्यों न हों, वास्तव में वह परमपवित्र, निःस्वार्थ और शान्त होते हैं। उनका जीवन केवल लोकहित के लिए ही होता है, वह जगत् के लिए अपने जीवन को बिताकर ही सन्तुष्ट होते हैं क्योंकि–वह ईश्वर के साथ अभिन्नभाव को पाजाते हैं।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

[गीता २ अ०]

देही के इस देह में जैसे बालकपन, जवानी और फिर बुढ़ापा आजाता है, तैसे ही निःसंदेह दूसरे शरीर की प्राप्ति है, बुद्धिमान् उस में दुःख नहीं मानता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥
न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

(गीता २ अ०)

अविनाशी अप्रमेय नित्य देहीके यह शरीर नाशवान् हैं,इसलिए हे अर्जुन ! मिथ्या मोह छोडकर युद्ध कर ॥१८॥ जो इसको मारने वाला जानता है और जो इसको मराहुआ मानता है, यह दोनों नहीं समझते वास्तवमें न वह मारता है, न माराजाताहै ॥१९॥ न उसका जन्म है, न मरण है न यह उत्पन्न होनेपर अस्तित्त्व पाता है, क्योंकि यह तो निःसन्देह अज, नित्य,पुरातन और शाश्वत है,अतः शरीर का नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता है ॥ २० ॥ हे पार्थ ! जो उसको अविनाशी, अज, अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे मारता है ? किसको मारता है और किसको मरवाता है ? ।२१। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर नए और वस्त्र धारण कर-लेता है, तैसे ही देही जीर्ण शरीरको छोड़कर और नया शरीर धारण करता है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।३०।

(गीता २ अ०)

हे अर्जुन ! सबके देहमें यह देही नित्य अवध्य है, इसलिए सकल प्राणियोंमें किसी का भी तुमको शोक न करना चाहिये ३०.

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते ॥

(बृहदारण्यक ४ । ४ । ४ ॥)

जैसे सुनार सोने का टुकड़ा लेकर उसको और ही आकारका बना देता है, नया रूप देकर उसका आकार करदेता है। तैसे ही आत्मा इस देहको त्याग अविद्या का नाश करके सुन्दररूप धार नए देहका आश्रय करता है ॥ ८ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

(गीता ५ अ०)

जो पुरुष आसक्ति छोड़कर ब्रह्ममें अर्पण करके कर्म करता है वह, जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता तैसे पाप से लिप्त नहीं होता है ॥ १० ॥ योगिजन आसक्ति को छोड़कर मनः-शुद्धि के लिए शरीर, मन, बुद्धि लगाकर इन्द्रियों की सहायता से कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ युक्त पुरुष कर्मफलमें आसक्ति को त्याग-कर कर्म करके नैष्ठिकी शान्ति पाता है और अयुक्तपुरुष अपनी कामना के कारण आसक्ति करके कर्मफाँसी में बँधजाता है ।१२।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।१८।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।२०।
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

विद्या विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल को ज्ञानी पुरुष एक समान देखते हैं ॥ १८ ॥ जिनका मन साम्य में स्थित है, उनको संसार में ही संसारका जीतनेवाला जानो, ब्रह्म सकल स्थानों में निर्दोष और समान है अतः वह बुद्धिमान् ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्ममें स्थित, स्थिर-बुद्धि, और सदा मोहरहित है वह पुरुष, प्रिय वस्तुको पाकर प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय वस्तुको पाकर खिन्न नहीं होता ॥ २० ॥ जिसका मन बाहरी विषयों में आसक्त नहीं है, जो आत्मा में शान्तिसुख पाता है, वह भाग्यवान् ब्रह्मयोगयुक्त होकर अक्षय सुखमें मग्न होता है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधावयुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिस को आत्मा में ही सुख है, आत्मा में ही आराम है और आत्मा में ही दृष्टि है वह योगी ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण पाता है ॥ २४ ॥ जिनके पाप नष्ट होगए हैं, जिनको संशय नहीं है,

जिन्होंने चित्त की वृत्तियों को वश में करलिया है, और जो सकल प्राणियों का हित करने में तत्पर रहते हैं वह ऋषि ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ काम क्रोध से मुक्त, चित्त को वश में करनेवाले, आत्मज्ञानी यतियों के चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण है अर्थात् मोक्ष पास ही है. उनके लिए जीना क्या है और मरना क्या है? २६

चतुर्थ अध्याय

कर्मफलतत्त्व

जो वर्त्तमान में कियाजाता है, उसके साथ भविष्यत् के फल का जो निर्दिष्ट और विशिष्ट सम्बन्ध है, यह ही कर्म का अर्थ है । कोई भी बात अकस्मात् या अकारण नहीं होती, सबका कुछ न कुछ कारण होता है । वह नियमित रूपसे यथाक्रम संघटित होताहै

एक बीजको बोने पर वह अंकुरित होकर एक डंडी को उत्पन्न करता है, उसमें पत्ते उगते हैं, तदनन्तर फूल लगते हैं । फिर फल होता है और फल से फिर बीज उत्पन्न होता है । तथा उस बीज से फिर पहिले के समान डंडी, पत्ते, फूल, फल और बीज उत्पन्न होते हैं । जिस वृक्ष का बीज होता है, उससे वह ही वृक्ष उत्पन्न होताहै धान्य से धान्य की और जौ से जौ की उत्पत्ति होती है। गेहूंसे गेहूं और बबूल से बबूल ही उत्पन्न होता है । कोई बबूल बोकर उस से मधुर दाखें पैदा होने की आशा नहीं करसकता, यही कर्मफल है । यह जानकर मनुष्य को अभिलाषा के अनुकूल ही बीज बोना चाहिये कर्मका यह नियम साधारण रूपसे सबको ही स्मरण रखना चाहिये ।

कर्मतत्त्व मनमें जितना सहज मालूम होता है, उतना सहज नहीं है । यदि मैं किसी से बूझूँ कि–'आप बाजारमें क्यों गए थे,, तो वह कहेगा कि–"मुझको एक जोड़ा खड़ाऊँ चाहिये थीं और

मनमें आया कि–वहां मिलजायँगी,, अथवा कहेगा कि मुझको एक मित्र से मिलना था, और मनमें आया कि–वह तहाँ मिलेगा इसप्रकार सबही कार्योंका एक न एक प्रयोजन और मनन वा सङ्कल्प देखने में आता है। क्रिया, मनन और प्रयोजन सदा एक ही सूत्र में गुथे होते हैं।

इस प्रयोजन का नाम वासना है पहिले हम वासना करते हैं, यह कर्म की प्रथम अवस्था है, फिर सङ्कल्प करते हैं कि जिस-प्रकार यह वासनासिद्ध होगी, यह दूसरी अवस्था है, अन्त में अभीष्ट लाभ के लिए कार्य करते हैं, यही कर्म की तीसरी अव-स्था है। यही कर्म का क्रम है। हरएक कार्य के पीछे सङ्कल्प और वासना लगेहुए हैं और हरएक संकल्पके पीछे वासना लगीहुई है

कर्म, संकल्प और वासना यह तीन कर्मरज्जु के सूत्र हैं यह तीनों मिलकर कर्मरज्जु कहलाती है। हमारे कर्म के द्वारा हमारे निकट सम्बन्धी सुखी या दुःखी होते हैं। यदि सुखी हों तो मैंने सुख का बीज बोया था, उससे अवश्य ही मुझको सुख होगा और यदि दुःख का बीज बोया है तो निःसन्देह दुःख होगा। यदि निष्ठुरता के काम करते हैं तो निष्ठुरता का बीज बोदिया, उस के फल से हमारे भोग्य में निष्ठुरता ही प्राप्त होगी तैसे ही दया का बीज बोने पर दया मिलेगी, इस में सन्देह नहीं है, जैसा बीज बोयाजायगा, उसका ही फल हम को भोगनापडेगा, यह ही कर्मफल है।

परन्तु पहिले बताचुके हैं कि–हरएक कर्म के पीछे संकल्प लगा हुआ है। जैसे क्रिया से सुख दुःख रूप फल मिलता है तैसे ही उस संकल्प के कारण हमारा चरित्र गठित होता है। चरित्र में हमारे मन की अवस्था वा प्रकृति का विकाश है। हम जिस विषय की बहुतसी चिंता करतेहैं हमारे मन की तैसीही दशा हो जाती है, केवल दयाके व्यापारका विचार करने पर हम निःसंदेह

दयालु होंगे क्रूर कर्मकी चिंता करने पर हमारा स्वभाव क्रूरता का ही होजायगा। रातदिन धोखेबाजीका ध्यान करने पर हम अवश्य ही धोखेबाज होजयँगे, श्रेष्ठ चिन्तवन का फल साधुभाव ही है। इस प्रकार संकल्प से ही चरित्र गठित होताहै, इस जन्म में जैसी चिन्ता करते हैं पुनर्जन्म के समय हमारा चरित्र निःसंदेह उसके अनुसार ही गठित होगा। हम अपने स्वभावके अनुसार ही कार्य करते हैं। दयालु पुरुष ही दया का काम करते हैं, क्रूरपुरुषोंके काम क्रूरता से ही भरे होते हैं, इसलिए हमारे वर्त्तमान जीवनके संकल्प से ही, दूसरे जन्म के चरित्र और घटनाएं संघटित होते हैं इसमें संदेह नहीं है। यह ही कर्म है।

सङ्कल्प के मूलमें ही वासना है। वासनाके कारण ही हम अभीष्ट वस्तु पाते हैंजैसे चुम्बक लोहे को खेंचता है, तैसे ही कामना अभीष्ट वस्तुको खेंचती है। धनकी इच्छा करनेपर जन्मांतर में धनवान् होने का सुयोग पायाजाता है। ज्ञान की कामना करनेपर जन्मा-न्तर में ज्ञानवान् होने का सुयोग होता है। प्रेमकी अभिलाषा होने पर जन्मान्तर में प्रेमालाप होसकता है। शक्ति पानेकी वासना होनेपर जन्मान्तरमें शक्तिमान् होसकता है। यह ही कर्मफलहै (१)

(१) पहिले ही कहचुके हैं कि–कर्मफल का तत्त्व बड़ा दुर्बोध है और यही सृष्टि की मूलनीति या आदितत्त्व है। सृष्टिमें जगत्के सकल तत्व ही इस आदितत्व के ऊपर स्थित हैं क्योंकि विश्वरचना वा विश्वकल्पना ही सृष्टिका आदिकर्म है। अतएव सृष्टि की आदि से अन्ततक सब ही इस कर्मतत्व के ऊपर प्रति-ष्ठित है। आजकल विज्ञानके अनुशीलन के घमण्डी, अदूरदर्शी, अपने ही मतके मतवाले, अंगरेजी पढ़े नौजवान कर्मफल की बात सुनते ही चौकन्ने होजाते हैं, यह विचारहीन नवयुक कर्मफल के विषय में अपनी अश्रद्धा की बात चाहे जितनी दृढ़ताके साथ सिद्ध

छात्रों को यह कठिन विषय बार २ भावना करके हृदयङ्गम करलेना चाहिये। इसको ठीक २ बिनासमझे कर्मबाहुल्य का कठिन भाग समझ में नहीं आसकता। कर्मफलके विषयमें एक बात में यही कहाजासकता है कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

जैसा बीज बोयाजाता है फल भी वैसा ही होता है। यहां पाठक यह जिज्ञासा करसकते हैं कि-यदि हमारा वर्त्तमान कर्म

करनेकी चेष्टा करें, परन्तु जरा विचारके साथ देखते ही वह समझ सकेंगे कि-कर्मवाद में उनका स्वाभाविक विश्वास हुए विना क्षण मात्र को भी जीवन धारण नहीं करसकते जो कर्म जिस फल में परिणत होता है उस में उनका ज्ञान वा विश्वास न होता तो वह कभी भी उस कर्म को नहीं करते। अन्नभक्षणरूप क्रिया के द्वारा क्षुधा की निवृत्ति होती है। इस बात को यदि वह नहीं जानते और भोजन का फल क्षुधा की निवृत्ति है, इसका यदि उनको विश्वास नहीं होता तो भूखे होने पर भी वह भोजन करने में प्रवृत्त नहीं होते। जल होने पर उस जल से प्यास दूर होजाती है, इसका उनको यदि विश्वास न होता तो प्यासे होनेपर भी कभी वह जल की चाहना नहीं करते। आपको यदि विश्वास न हो कि-आम के बीज से आमका वृक्ष उत्पन्न होता है अथवा यदि आपको विश्वास होता कि-आम के बीज से चाहे सो वृक्ष उत्पन्न होसकता है तो आप आम का बीज कभी नहीं बोते। फल की चाहना वाला पुरुष प्रतिक्षण फल की चेष्टा के सब ही कार्यों में रत रहता है। कर्मफल के साथ जिनके जीवन की प्रत्येक चिन्ता, स्मृति, उक्ति और क्रिया इसप्रकार घनिष्ठभाव से जड़ी हुई है नहीं मालूम वह किस प्रकार पागल की समान कर्मफल वाद का विरोध करते हैं।

पिछले जन्म के सङ्कल्पका फल है और पिछले जन्मके सब संकल्प व्यतीत वासनाओं का फल है, तब तो जीव असहाय रूपसे बँधाहुआ है। व्यतीत जन्मके संकल्पानुसार ही तो हम कर्म करने को लाचार हैं, पिछले किसी जन्मकी वासनाओं के अनुसार हमारे संकल्पोंका उदय होगा ही। यह बात ठीक है, परन्तु इसकी भी एक सीमा है क्योंकि-ज्ञान की वृद्धिके साथ २ हमारा परिवर्त्तन होता चलाजारहा है। उत्तरोत्तर ज्ञान पानेके साथ२ ही जीव अपनी वासनाओं को बदलता जाता है। इस लिए यह बात कहसकते हैं कि-पहिले जन्मों में हमने जैसे भाव की वासना संकल्प और कर्म करे थे उससे अन्य भाव की वासना, संकल्प और कर्म भी तो करसकते थे, अब भी चेष्टा करने से उनकी गति पलटी जासकती है और ज्ञानके बल से उनके खोटे फलके अस्तित्व को समझते ही, यत्न करके उनका पलट देना असम्भव नहीं है।

मान लो, किसी ने समझपाया कि-मैंने कोई निर्दयीपने का काम किया है, और साथ २ में यह भी समझपाया कि—वह निर्दयीपने का काम किसी अतीत निर्दयीपनेकी चिन्तासे उत्पन्न हुआ है और चिन्ता भी विषय की वासना की फल था, उस वासना की चरितार्थता निर्दयीपने के विना होही नहीं सकती, उसने जानलिया कि-उस कार्य के फल से ही लोक में कष्ट पारहा हूं और उसी के कारण लोग मुझ से घिनियाकर बचते हैं और इसी कारण मेरा कोई साथी नहीं है तथा दुःख पारहा हूं। यह सब सिलसिला विचारकर उसने अपने स्वभाव को पलटने का संकल्प किया। परन्तु उसका अपने पहिले संकल्प आदि के कारण बनेहुए मनके भाव को पलटदेना कोई सहज नहीं है, अभ्यास की शक्ति बड़ी ही प्रबल है। उस समय उसने सकल अशान्तियों की मूल जो वासना, जिस वासना से उत्पन्न हुई वस्तु को पाने

के लिए, निष्ठुरता दिखाने के सिवाय दूसरा उपाय ही नहीं है उस ही वासना को दूर करने की, चेष्टाकी उस समय वह जीव अपने आप ही कहनेलगा कि-अब मैं इन सब विषयों की वासना नहीं रक्खंगा, क्योंकि-निर्दयता के विना वह सिद्ध नहीं होगी, इसके फल से मुझ को बड़ा ही मानसिक कष्ट उठाना पड़ेगा। इसप्रकार वह संकल्प के द्वारा वासना का नाश करने के यत्न में लगा और वासना से संकल्प का उदय नहीं होनेदिया, तब वासना जिसकीरस्सी टूटगई है ऐसे घोडेकी समान उसको अपनी इच्छानुसार नहीं लेजासकी। उसने संकल्प को लगामरूप से काममें लाकर वासनारूपी घोड़ेको क्रम से अपने वशमें करलिया। उस समय वह, जिस कार्य के करने से सुख मिलता है, उसी कार्य के अनुकूल वासना को चलावेगा।

जिनको पूर्णरूप से ज्ञान प्राप्त न हुआ हो वह जीव, वासना को वश में नहीं रखसकते, इसकारण वह पग २ पर अपने को दुःखित करते हैं। क्रमसे ज्ञान की वृद्धि होनेके संग२ जिस विषय की वासना करने से अशान्ति और दुःख होता है, उस विषय की वासना का मन में उदय होते ही उसको संकल्पके द्वारा उपयोगी विषय का ओर को चलाते हैं। जो छात्र अपने और दूसरे के सुख की वृद्धि चाहते हैं उनको चाहिये कि-वासना को अपने वशमें करें। दृष्टि डालकर और वस्तु का विचार करके, क्या सुखकारक है और क्या दुःखदायक है, इसका निर्णय करके, अपनी समस्त शक्ति के बल से सुखमय विषय की ही वासना करें।

किसी विशेष प्रकार से जीवन को बितादेने से ही जन्ममरण रूप बन्धन से मुक्ति नहीं होजाती है, भगवान् श्रीकृष्णने कहा है

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥

(गीता ६। ३१ श्लो०)

जो सकल भूतों में स्थित मुझको भेदभाव छोड़कर भजता है विषयों में रहकर भी वह योगी मुझ में ही स्थित है। क्षत्रिय राजर्षि जनक और वैश्य तुलाधार तुल्यरूप के ही मुक्त थे, उनको बन में नहीं जानापडा था, केवल वासना का अभाव ही उनकी मुक्ति का हेतु हुआ था।

राजर्षि जनक मिथिला के राजा थे और विदेहोंका शासन करते थे, उन्होंने मन में शान्ति पाकर कहा था कि-यद्यपि अतुलसम्पत्ति का स्वामी हूं, तथापि मेरा कुछ नहीं है। यदि सकल मिथिला जलजाय, तथापि मेरा कुछ भी नहीं जलेगा, उन्होंने सान्त्वयसे यह कथा कही थी कि-मनुष्यका जो कुछ है सो कष्टका कारण है, वासना का नाश होने पर जो सुख होता है, स्वर्ग में वा मृत्युलोकमें वासना की चरितार्थता से उसका सोलहवां हिस्सा भी सुख नहीं मिलता है। जैसे बैल के सींग उसकी उमर बढ़ने के संग २ बढ़ते हैं, तैसे ही सम्पदा की वासना सम्पदा की वृद्धि के संग २ बढ़ती चलीजाती है। सम्पदा होनेपर उसके द्वारा सत्कर्म किया जासकता है, परन्तु उस सत्कर्म के फल की इच्छा नहीं रखना चाहये, क्योंकि—वासना ही दुःख है। सब प्राणियों को अपनी समान देखो। ज्ञानी की ही सब आकांक्षाओं की निवृत्ति होसकती है। योगी याज्ञवल्क्यजीसे शिक्षा पाकर जनक मुक्त हुए थे, क्योंकि-उनकी शिक्षा से ही वह ब्रह्म को पासकेथे और तब ही उनकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति हुई थी, शिक्षा पाकर उन्होंने ही फिर गुरु बन व्यासपुत्र शुक को मोक्षधर्म की शिक्षा दी थी।

जाजानि ने बहुतसी तपस्या की थी, उससे उसके मनमें अहंकार उत्पन्न होगया। एक दिन उन्होने अपने मन ही मनमें विचारा कि—ससागरा भूमिपर मेरी समान कौन है?, उसी समय आकाशवाणी हुई कि-मनमें ऐसा विचार न करना। वैश्य तुलाधार यद्यपि रातदिन खरीदने बेचने के काममें लगारहता है

तथापि तुम उसकी समान नहीं हो। उस समय जाजानिने विचारा कि-एक साधारण बनिया मुझसे अधिक कैसे होसकता है ? मैं ब्राह्मण हूं तपस्वी हूं। यह विचार कर वह तुलाधार की खोज करने को चलदिए। बनारस में पहुंचकर उन्होंने तुलाधार को खरीदने बेचने के कार्य में तत्पर पाया। इनको देखते ही तुलाधार ने खड़े होकर अभ्यर्थना की और उनकी कठिन तपस्या का सब वृत्तांत सुनाकर कहा कि-आप क्रोध में भरकर मेरे पास आये हैं, कहिये इस समय मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं ?। जाजानि उसकी अतीतदर्शन की शक्तिसे आश्चर्य में होकर उसका कारण बूझने लगे, उससमय तुलाधार ने उनको अति प्राचीन नीति की कथा सुनाई. उन सब नीतियों को सब ही जानते हैं परन्तु कोई उनका पालन नहीं करता है। उन सब कथाओंका स्थल मर्म यह है कि-मनुष्यका ऐसा वर्ताव होना चाहिये कि-जिसमें किसीको कष्ट न देनापडे। यदि किसीको अवश्य ही कष्ट पहुंचता हो तो यथासंभव थोड़ा कष्ट देना चाहिये। किसीसे कर्ज नहीं मांगना चाहिये, किसीके साथ विवाद नहीं करना चाहिये, आसक्ति और द्वेषभाव दोनों को त्यागना चाहिये। सबको ही समान समझै किसी की प्रशंसा वा निंदा न करै। जब कोई पुरुष निर्भय होता है और दूसरे के भयका कारण नहीं होता है, जिससमय वह किसी का भी अनिष्ट नहीं करसकताहै, उसी समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होजाता है। मनुष्य और प्राणियोंके ऊपर निष्ठुरता का व्यवहार करनेमें उनका क्या अनिष्ट होता है, यज्ञविधि किसको कहते हैं, यथार्थ तीर्थयात्रा क्या है, इन सब बातोंका वर्णन करके तुलाधार ने दिखादिया कि-शुद्ध अहिंसामय धर्मका आश्रय करके मनुष्य मुक्त पासकता है।

। तुलाधारने सुन्दररूप से निर्दयता, यज्ञविधि और यथार्थ तीर्थयात्रा आदिका वर्णन किया था और दूसरेका अनिष्ट करनेके

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत
उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-
क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषस्तथेतः प्रेत्य भवति।
छांदोग्य ३। १४। १

इस जगत्में यह सब ब्रह्ममय है, उसीसे उत्पन्न हुआ है और उसीमें लीन होगा, शांत होकर उसकी उपासना करै, पुरुष जैसी भावना करता है इसलोकमें तथा परलोकमें वैसा ही पाता है।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति मनो यत्र निषक्तमस्य।
[बृहदारण्यक ४। ४। ६)

जो पुरुष सकाम है वह अपने कर्मफल से, जिस में आसक्त होता है वही वस्तु पाता है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स लिप्यते ॥१३॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १४ ॥
गीता ४ अ०

कर्मों की शक्ति नहीं है कि-मुझको लिप्त करसकैं, कर्मके फल में मेरी इच्छा नहीं है, जो मुझको ऐसा जानता है, फिर कर्मों की क्या शक्ति है जो उसको बंधन में डालसकें। १३। ऐसा जानकर पहिले मुमुक्षु पुरुष भी कर्म करते थे, उन ही के मार्ग का अवलम्बन करके तुमभी कर्म करो, जैसा कि पूर्व महापुरुषों ने पहिले किया है ॥ १४ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिसके सकल कार्य काम-सङ्कल्प रहित हैं, उस ज्ञानाग्निसे सकल कर्मोंको भस्म करनेवाले पुरुषको चतुर पुरुष पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ कर्मफल में आसक्ति को त्यागकर, नित्यतृप्त निरालंब वह पुरुष, प्रतिक्षण कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता है ॥ २० ॥ हरसमय निष्काम, संयतचित्त होकर जो सकल परिग्रह का त्याग करदेता है वह शरीर के निर्वाह के लिए किसीप्रकार का कर्म करताहुआ भी पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता है ॥२१॥ स्वयंसिद्ध होनेवाले लाभसे जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत, मत्सर रहित, हानिलाभ को समान मानने वाला पुरुष, कर्मके भी बन्धन में नहीं पडता है २२ सङ्गहीन, मुक्त और ज्ञान में स्थित है चित्त जिसका ऐसा पुरुष यज्ञके निमित्त कर्म करताहुआ कर्मफल के बन्धन में नहीं पडता है ॥ २३ ॥ ब्रह्मके ही अर्पण होता है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्मरूप अग्नि में ही होम होता है, होम करने वाला भी ब्रह्म है और ब्रह्मकर्मसमाधि के द्वारा ब्रह्ममें ही लीन होता है ॥ २४ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
[कठ । २ । ६ । १५]

जब इसके हृदयमें स्थित कामनाओंके समूह दूर होजाते हैं, तब यह मर्त्य जीव अमर होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

देहरूपी रथमें आत्माको रथी जानो, बुद्धिको सारथि और मन को लगाम जानो ॥ ३ ॥ इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उन के फिरने का स्थान जानो, आत्मा मन और इन्द्रियोंके साथ मिलकर सकल भोगोंको भोगता है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥४॥ जिस अज्ञानी का मन युक्त नहीं होता है, उस का इन्द्रियें वश में नहीं रहती हैं, जैसे कि-लगाम की डोर ढीलीं होने पर सारथीके दुष्ट घोड़े जिधर तिधर को जानेलगते हैं ॥ ५ ॥ परन्तु जिस ज्ञानी का मन युक्त होता है, उस की इन्द्रियें काबू से वाहर नहीं होसकतीं, जैसे कि—श्रेष्ठ घोड़े सदा प्रसन्नता के साथ सारथी की आज्ञानुसार श्रेष्ठ मार्ग में को जाते हैं॥ ६ ॥ जिस अज्ञानी का मन स्थिर नहीं होता है, जो सदा अपवित्र रहता है, वह ब्रह्मपद को नहीं पासकता और निरन्तर संसारचक्र में घूमता रहताहै ॥७॥

पञ्चम अध्याय

यज्ञ विधि

यज्ञ का प्रधान कार्य अर्पण वा निवेदन है, इस वात को भारत वर्षके बूढ़े से लेकर बालक तक जानते हैं। परन्तु इस यज्ञकर्म में

जो मूलतत्त्व भीतर स्थित है, वह छात्रों को भली प्रकार हृदयङ्गम करलेना चाहिये, तब वह भले प्रकार समझसकेंगे कि— दूसरे के लिए आत्मत्याग वा आत्मसमर्पण ही यज्ञ है और बाहरी द्रव्यों के त्याग के द्वारा मनुष्य को यह शिक्षा दीजाती है कि— साधारण पदार्थों का त्याग करते २ यह आत्मबलिदान करने में समथ होगा।

इस सृष्टिकार्य में पहिला कार्य यज्ञ वा त्याग है। इस ब्रह्मांड की सृष्टि के लिए अनन्त ईश्वरका भौतिक आवरण में बँधना पडा था। श्रुति और स्मृति इस बात को एकवाक्य होकर घोषित करती ह, पुरुषसूक्त में यह बात स्पष्ट लिखी हुई है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने भी कहा है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

जो देव के उद्देश्य से त्यागरूप यज्ञके द्वारा भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, उसका ही नाम कर्म है। भूत पदार्थमें आवद्ध होनेसे अध्यात्मभाषा में मृत्युशब्द से कहा जाता है। अतएव ईश्वरने आत्मत्यागरूप यज्ञ के द्वारा अपने अंश को बहुत्व देकर अनेकों जीवों की कल्पना कर उनको प्रकृतिके आवरण में स्थापित किया है। उस से ही स्थावर जङ्गमरूप बहुतसी मूर्त्तियें प्रकट हुई हैं। यह ही प्रथम यज्ञ है, यह ही यज्ञविधि की मूल है। इस के ही द्वारा हम यज्ञ के वास्तविक अर्थ का अनुभव करसकते है, दूसरे के लिए अपने प्राणों की आहुति देना ही यज्ञ है।

सकल जीवों के विषय में प्राणयज्ञ को ही यज्ञ जानो। प्रथम अवस्था में उन को बलात्कार से यज्ञ की आहुतिरूप में कल्पना कियागया था, इसलिए उस में उन की उन्नति बलात्कार से कराई जाती थी। उस में उनकी सम्मति वा ज्ञान का प्रयोजन नहीं था. उनके देह में से जबरदस्ती जीव को अलग करके अन्य देह का उपयोगी बनायाजाता था। उसमें धीरे२ जीवका विकाश होता था

इसप्रकार स्थावर में का जीव क्रमसे उद्भिद के उपयोगी होगया था अर्थात् उसके स्थावर शरीर ने क्रम से उद्भिद शरीरके पोषण कार्य में खरच आकर उसका आकार पाया था। उद्भिदमें स्थित जीव भी तिसीप्रकार क्रम से पशुशरीर की रक्षा के लिए धीरे २ पशुशरीर में परिणत हुआ। पशु आदि के देह में का जीव भी तिसीप्रकार क्रम२ से मनुष्यदेह में सञ्चारित हुआ है, यहाँतक कि मनुष्य के शरीर में का जीव भी नरमांसभक्षी मनष्य के देहके पोषणकार्य में और युद्ध आदि में निहत होकर अतिउच्च शरीर का अधिकारी हुआ है।

इन सब स्थलों में देह दूसरों के उपकार के लिए परित्यक्त होने पर भी देह में स्थित चेतना की उस में सम्मति नहीं होती है। बहुत समय के अनन्तर देह में स्थित जीव इस सार्वजनिक विधि का स्वयं अनुभव करसकता है। उस समय अपनी इच्छा से अपनी उपाधि को त्यागकर परोपकार को साधने का उस की इच्छा होती है, इसी को आत्मत्याग कहते हैं। उस समय ही जीव में ईश्वरभाव है इसबात का प्रमाण मिलता है। महाभारतमें पूर्ण आत्मत्यागकी एक सुन्दर कथा है। देवराज इन्द्रको ऋषियों के रोष से उत्पन्न हुए वृत्रासुरने पीड़ा दी थी। वृत्रासुर ने दैत्योंको साथ में लेकर सेनासहित इन्द्रको युद्धमें परास्त कर अमरावतीसे निकालदिया। देवताओंने इन्द्र के साथ बहुत दिनों तक छुपेहुए रहकर अपने राज्यको पाने की चेष्टाकी और बार २ परास्त हुए, अन्तको उनकी समझमें आया कि-यह ऋषियोंके क्रोधसे उत्पन्न हुआ दुर्विपाक, किसी और ऋषि के अपनी इच्छानुसार आत्मत्याग किये बिना शान्त नहीं होसकता। इसलिए कोई ऋषि आत्म त्याग करें और उनके शरीरकी हड्डियोंका वज्र नामक अस्त्र बनाया जाय तबही वृत्रासुर मारा जासकता है, दूसरे अस्त्रसे वृत्रासुरका माराजाना कठिन है। उस समय वह दधीचि ऋषि के पास गए

और उनको अपनी दुःखकहानी सुनाई। ऋषिने कृपावश होकर कहा कि-'मैंने अपनी इच्छा से तुमको अपना शरीर दिया, तुम इसको लेकर इस से चाहे सो काम कर सकते हो।' परन्तु देव शिल्पी विश्वकर्मा ऋषिके जीवित शरीरमेंसे हड्डियें लेतेमे सकुचाये तब दधीचिने हँसकर कहा कि मेरे शरीरपर लवण लगाकर गौओं से चटवाओ, तब वह लवण के साथ मेरे शरीर के मांस को भी चाटजायँगी, उससमय हड्डियें लेनेमे कुछ अडचन नहीं रहेगी और मेरे शरीर में का कुछ भाग भी निरर्थक नष्ट नहीं होगा। यह ही कियागया। आत्मयज्ञ के फल से वृत्रासुर मारागया। महाभारत के वनपर्व में यह कथा विस्तार के साथ लिखी है।

ऋषियों ने मनुष्यों के लिए जो यज्ञ करने की विधियें बताई हैं, उनका फल उसी समय नहीं मिलता है। उन्होंने कहदिया है कि-जो कुछ परोपकारके लिए त्यागाजाता है वह बढ़कर भविष्यत् में उसको भोगने के लिए प्राप्त होता है। इस उपदेश के बल से जीव को त्यागधर्म के स्वीकार का ज्ञान हुवा था। प्रायः मनुष्य अपने प्रयोजन से अधिक द्रव्य दूसरों को दे देता है और उसके फल से भविष्यत् में अधिक लाभ होने की प्रत्याशा रखता है। फिर वह शिक्षा देता है कि-वर्त्तमान में सुखकी आशाका छोडने से स्वर्ग में अधिक सुख का भोग मिलता है, इसप्रकार त्यागका अभ्यास होता है। अन्त में त्याग आवश्यक कर्त्तव्य प्रतीत होने लगता है और उसको करने से उससमय जैसा आनन्द होता है उसको ही वह उस कार्यका यथेष्ट फल मानने लगता है।

इस कार्य के द्वारा मनुष्य और जीवोंको अपने कर्त्तव्यकी शिक्षा देता है : मनुष्य समझसकता है कि-वह अकेला नहीं है, किन्तु सबही जीव परस्पर सापेक्ष हैं और उस सापेक्षताका ज्ञान होनेसे ही उनकी उन्नति होसकती है। ऋषिगण मनुष्य के लिए पञ्चयज्ञ की विधि बतागए हैं। वह पञ्चयज्ञ मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म है और

पांच ऋणोंका निबटाना है। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा अन्य प्राणियोंने उसके जीवनके लिए जो सहायता की है उसकाही पलटा देनेके लिए यह पञ्चयज्ञ करने चाहियें, जब वह दूसरेकी सहायता से जीवित हैं, तब उनको भी दूसरोंके लिएही जीवन धारण करना चाहिये। यज्ञ करना चाहिये, तदनन्तर जीवको जिससमय अपनी उत्पत्तिका कथा ज्ञात होती है तब समझता है कि-उसके साथ ईश्वरत्व अभिन्न है, उससमय त्याग प्राणोंको आनंददायक व्यापार मालूम होने लगता है। उससमय अपने प्राणों को जगत् के प्राणोंमें मिलादेनेकी वासना होती है। उससमय यही प्राणों को आनंददायक प्रतीत होने लगता है, उससमय और कुछ ग्रहण करने की लालसा नहीं होतीं है, उससमय ग्रहण करनेका प्रयोजन कम होजाता है और सर्वस्व त्यागने में भी सङ्कोच नहीं होता है। उससमय वह अपनी उपाधि की रक्षाके लिए निर्वाहमात्र वस्तुओंको ग्रहण करनेका प्रयोजन रखते हैं। अपने शरीर की रक्षाके लिए दूसरोंको जितना कम कष्ट पहुंचे उसका ध्यान रखते हैं, जिस आहार विहारमें सचेतन जीवोंको कष्ट पहुंचता है उसको वह त्यागदेते हैं। उससमय वह सब जीवोंको मित्रभाव से देखते हैं। उससमय वह समझते हैं कि-किसी अवस्था में क्रमविकाश के लिये एक जीवको अपर जीवकी हिंसाका प्रयोजन होने परभी मनुष्यकी उन्नति के साथ २ दया दाक्षिण्य आदि गुणोंकी वृद्धि ही मङ्गलकारक है दुर्बल पुरुषको अपनी ही दूसरी मूर्त्ति मानकर उसकी सहायता करना चाहिये, उसको कष्ट कभी न पहुंचावै।

मनुष्य इसप्रकार अभिन्नभाव की चिन्ता करते २ 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' इस सिद्धान्त को समझसकता है। धीरे २ उसको बोध होता है कि-दूसरोंके लिये ही उसका जीवनधारण है, ईश्वर जैसे सबमें प्राणरूप से वर्त्तमान है और वह ही उसका आनंद है, तैसे ही ईश्वर की इच्छाका अनुवर्त्तन ही उसका आनन्द है।

ऐसा ज्ञान होने पर सबही कार्य ईश्वर की प्रीतिके लिए करने होते हैं, जब यह ज्ञान होजाता है, उस समय यज्ञविधि ही मुक्ति का उपाय होती है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
(गीता ३ अ०)

यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा था कि—हे मनुष्यों! इस यज्ञके द्वारा तुम अपनी उन्नति करो, यह तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि करदेगा॥१०॥ इस यज्ञसे तुम देवताओंको तृप्त करके उसके द्वारा तुम मुक्तिस्वरूप परमश्रेय तक पाजाओगे॥११॥ यज्ञ के द्वारा तृप्त हुए देवता तुमको इच्छित पदार्थ देगें, उन देवताओं के दियेहुए भोगों को उनको विनादिए जो अपने आपही खालेता है वह चोर ही है॥ १२ ॥ जो सज्जन यज्ञशेष खाते हैं वे सकल पापों से छूटजाते हैं, जो दुरात्मा अपना पेट भरने मात्रके उद्देश्य से पाप करते हैं वह मानो पाप काही भोजन करते हैं॥१३॥ अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है अन्न पर्जन्य (मेघों) से उत्पन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य होते हैं और यज्ञ कर्मके द्वारा सम्पन्न होताहै

है॥ १४ ॥ कर्म वेद से और वेद परब्रह्म परमात्मासे प्रकट होता है अतः कर्म में सदा ब्रह्म ही स्थित है॥ १५ ॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥
[गीता ४ अ०]

मनुष्य कर्मफल की इच्छा करते हुए देवताओं का यजन करते हैं, इस मनुष्यलोक में कर्म करने से शीघ्र ही सिद्धि होती है॥१२॥

आवा राजानो वध्वरेववृत्त्याम्,
हव्येभिरिन्द्रो वरुणो नमोभिः ॥ १ ॥
अस्मै इन्द्रावरुणा विश्ववारम्।
रयिं धत्तं वसु यन्तं पुरुक्षुम् ॥ ४ ॥
इयमिन्द्रं वरुणमष्टमे गीः।
प्रावत्तोके तनये तूतुजाना ॥ ५ ॥
(ऋक् ७। ८४)

हे इन्द्र वरुण राजन्! तुम दोनों, यज्ञ में आओ हवि और प्रणाम को ग्रहण करो॥ १ ॥ हे इन्द्र वरुण! कृपा करके हर क्षण धन, भोज्य और सुख दो॥ ४ ॥ इन्द्र वरुण के समीप मेरा स्तुतिरूपी गान पहुंचने पर प्रसन्न होकर हमको सन्तान दें॥५॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु, यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो, यत्र देवानां पतिरेको ऽधिवासः॥
एह्येहीति तमाहुतयः सवर्चसः, सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य, एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः
(मुंडक १। २)

इन सात शिखाओंके ऊपर जो पुरुष यथासमय सदा आहुति देता है, सूर्य की किरणें उसको धीरे से ग्रहण करके देवराज इंद्र के स्थान में उनके आसनपर रखदेती हैं॥ ५ ॥ स्रुवेकी आहुति को 'आओ, आओ' कहकर सूर्यकी किरणें यत्न के साथ लेजाती हैं, वह आदर करके मधुर वचन कहती हैं कि- यह पवित्र ब्रह्मलोक है, यहां रहो॥ ६ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

(गीता ४ अ०)

जो यज्ञशेष अमृतका भोजन करते हैं वह शीघ्र ही सनातनब्रह्म को पाजाते हैं, यज्ञहीन का यह लोक ही नहीं है फिर परलोक उस का ठीक होही कैसे सकता है ॥ ३१ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

(गीता ४ अ०)

संगहीन, मुक्त और जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है वह यज्ञ के लिए कर्म करै तब भी कर्म का फल उसको भोगना नहीं पड़ता है ॥ २३ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो कुछ तपस्या करता है, हे कुरुनन्दन! वह सब मुझको ही अर्पण कर ॥ २७ ॥ इसप्रकार करने से शुभाशुभ फल और कर्मबन्धन से निस्तार पाजायगा ॥ २८ ॥

षष्ठ अध्याय।

दृश्य और अदृश्य लोक।

हम जिस लोकमें बसते हैं, जहां हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं, और सूँघते हैं, उस लोक के विषय में ही हमको यथासम्भव ज्ञान है। विज्ञान हम से इस लोक के बहुत से ऐसे अंशों के विषय कहता है, जो कि-हमारी इंद्रियों

के अगोचर हैं। ऐसी बहुतसी वस्तुएं हैं जो कि हमारी दृष्टि की शक्ति के बाहर हैं और इन्द्रियोंकी शक्तिके भी अतीत तथा अति सूक्ष्म हैं। हमारे इस लोक की जो ऐसी वस्तुएं हैं, जिनको कि हम अपनी इनि यों से ग्रहण नहीं करसकते, परन्तु विज्ञानके बल से हम उनको जान सकते हैं, वह हमारे अगोचर होनेपर भी निःसंदेह भौतिक हैं भौतिक पदार्थों के कठिन, तरल, वाष्पीय और ईथरीय सबही अंश परमाणुओं से गठित हैं।

इस के सिवाय और लोकों के विषय को हम सुनते ही हैं, वह सब लोक अदृश्य हैं और इस लोकके अंश नहीं हैं। उन सब लोकों में जीव मरण के अनन्तर जाते हैं। हम ने त्रिलोकी वा त्रिभुवन की बात पढ़ी है। सबही को उनके विषयका कुछ२ ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि-यह जीव जन्ममरण के चक्र में बंधकर निरन्तर इस त्रिलोकी में घूमता रहता है, इस भ्रमण के अनुग्रह से ही उसकी क्रमोन्नति होती है यह त्रिलोकी ब्रह्मा के दिन अर्थात् कल्पके आरम्भ में उत्पन्न होती है और अन्त में इसका ध्वंस होजाता है। इनके सिवाय और भी चार लोकों के द्वारा इस ब्रह्माण्डके सातलोकों की संख्या पूर्ण होता है। वह चार लोक ब्रह्मा की आयुभर वर्त्तमान रहेंगे। इससमय हम उन चार लोकों के विषय का वर्णन नहीं करेंगे। इन लोकों में और भी विभाग है, जैसे भुवर्लोक में प्रेतलोक और पितृलोक है, स्वर्लोक में इंद्र लोक और सूर्यलोक हैं, इत्यादि।

जिन तीन लोकोंके साथ हमारा विशेष संबंध है, वह भूलोक, भुवलोक और स्वर्लोक नामसे प्रसिद्ध हैं। भूर्लोक कहने से यह स्वर्ग और मर्त्य के मध्यका लोक समझाजाता है और स्वर्लोक ही स्वर्ग है। इस त्रिलोकीमें भूर्लोक का कुछ अंश हमारे चक्षुओं के गोचर है और बाकी इन्द्रियों के गोचर नहीं है। भर्लोक के सकल पदार्थों का प्रधान उपादान पृथ्वीतत्त्व ही है। पृथ्वीतत्त्व

की कठिन, तरल, वायव्य, तेजोमय, ईथरीय और आणविक अवस्था हैं और शेष चारकी ईथरावस्था है। भूर्लोकके सकल पदार्थोंकी भी इसीप्रकार सात अवस्था हैं, किंतु उसका मूल उपादान जलतत्त्व है। स्वर्लोक के मूल उपादान अग्नितत्व की भी तिसीप्रकार सात अवस्था हैं।

इस त्रिलोकी के अनुरूप जीवन के तीन आवरण हैं। वह अन्नमय, प्राणमय और मनोमय नामसे प्रसिद्ध हैं। अन्नमय कोष हमारे भोजनके अन्न से उत्पन्न होनेके कारण इस नामसे प्रसिद्ध हुआ है। वह भूर्लोक के दृश्य अंशकी समान कठिन, तरल और वायव्य-अणु के द्वारा गठित है। प्राणमय कोष भूर्लोक के अदृश्य अंशकी समान व्योमपदार्थ से गठित है। प्राण ही जीवन शक्ति है। वैज्ञानिक, वैद्युतिक, और सकल तड़ित् शक्ति इसी के अंतर्गत हैं परंतु जीवनशक्ति में इसके सिवाय और भी कुछ है, इन दोनों लोकोंका भूर्लोकके साथ सम्बंध है।

मनोमय कोष दो भाग में बटाहुआ है, इसमें के अधिक घनभागका भूर्लोकके साथ सम्बंध है जिसमें कि-सकल कामना स्थित हैं। अधिक सूक्ष्म भागका स्वर्लोक के साथ संबंध है, जिसमें कि भाव और भावना रहती हैं।

इन कोषोंके और भी नाम हैं, परंतु उन सबका यहां वर्णन करके पाठकों को चिंता में डालना नहीं चाहते। उनका ज्ञान बढ़ने के साथ २ वह अपने आपही उनको ज्ञात हो जायँगे। जिन तीन प्रकारके नामोंका चराचर में व्यवहार कियाजाता है हम उनका ही उल्लेख करेंगे।

अन्नमय कोषका दूसरा नाम स्थूल शरीर है और वह कठिन तरल तथा वायव्य उपादान से गठित है। प्राणमय और मनोमय इन दोनों कोषों को विज्ञानमय कोषके साथ इकट्ठा करके सबको सूक्ष्मशरीर नाम से कहाजाता है। इस विज्ञानमय कोष के द्वारा

जीवका महर्लोक के साथ संबन्ध है, यह महर्लोक त्रिलोकीसे पर है, इसमें भी जीव जाता है, यह लोक कल्पके अन्तमें भी नष्ट नहीं होता है, किंतु वासके अयोग्य होजाता है। सूक्ष्म शरीर का यह विज्ञानमय अंश कुछ अधिक दिनों ठहरता है। जन्म मरण रूप चक्रमें नष्ट नहीं होता है।

इन तीन प्रकारके विभाग और लोकोंके साथ उनके संबन्ध को स्पष्ट करके दिखाते हैं—

शरीर	लोक	कोष
स्थूल	भूर्लोक	अन्नमय
सूक्ष्म	भूर्लोक	प्राणमय
सूक्ष्म	भुवर्लोक	मनोमय
सूक्ष्म	स्वर्लोक	मनोमय

(यह शरीर मृत्युके समय नष्ट होकर पुनर्जन्म के समय फिर उत्पन्न होता है)

सूक्ष्म	महर्लोक	विज्ञानमय

(यह शरीर वा कोष मृत्युके समय और मृत्युके अनन्तर भी नष्ट नहीं होता है और पुनर्जन्म के समय नया उत्पन्न भी नहीं होता है)

स्थूल शरीरमें हाथ, पैर, वाणी, पायु और उपस्थ, इन कर्मेंद्रिय रूप यन्त्रोंका स्वरूप वर्त्तमान है परंतु यथार्थ इन्द्रियोंका केन्द्रस्थान सूक्ष्म शरीरमें है, इस लिए हर्ष विषाद आदि भावोंका अनुभव उस केन्द्र में ही होता है तदनन्तर इन्द्रियरूपी यन्त्र काम करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्रस्थान भी उस सूक्ष्म शरीर में ही है, किंतु स्थूल देहमें इन्द्रियों के साधन चक्षु, कर्ण, नासिका, जिव्हा और त्वचा रूपसे वर्त्तमान हैं।

अब मरण समय में जो कुछ घटना होती है उसकी आलोचना करते हैं। पहिले स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरसे भिन्न होता है, जीव प्राणमय कोषके द्वारा उसको पृथक् कर देता है। उससमय स्थूल

शरीर प्राणहीन जड़ पिण्ड की समान त्याग दिया जाता है, परंतु उससमय भी जड़सम्बन्धी अणुओं के प्राण होते हैं। उसीके कारण वह सकल परमाणु उससमय परस्पर विच्छिन्न होजाते हैं, क्योंकि सब का शासक प्राण उससमय नहीं है, उससमय जीव सूक्ष्म शरीर में ही रहता है। शीघ्र ही जीव प्राणकोष को त्यागकर मनोमय कोषके अधिक स्थूल अंशको बाहरी आवरण रूपसे रखकर प्रेत, रूपसे प्रेतलोक में वास करता है। यदि उसने पार्थिव जीवन को साधुभाव से व्यतीत किया होता है तो वह प्रेतदशा में आनन्द पाता है। दुराचारी पुरुष की प्रेतावस्था बड़ी ही कष्टदायक होती है। उससमय उसको पार्थिव सुखभोग का लालसा होती है परंतु उसको भोगने की शक्ति नहीं होती है, उन लालसाओं के अनुसार ही न्यूनाधिक समयतक इसको कष्ट भोगना पड़ता है, तदनंतर मनोमय कोष का स्थूल अंश नष्ट होने पर वह पितृलोक में जाता है, तहाँ मनोमय कोष में से स्वर्ग के अयोग्य उपादान को शुद्ध करके जीव, विशुद्ध मनोमय कोष से युक्त हुआ स्वर्गलोक में प्रवेश करताहै, तहाँ वह अपने सञ्चित कर्मोंके फलको भोगता है

उस फल के निःशेष होजाने पर उस के पुनर्जन्म का समय आपहुंचता है, उससमय मनोमय कोषका ध्वंस होनेपर विज्ञान मय कोष से आवृत्त हुआ जीव फिर मनुष्यदेह के गठनमें तत्पर होता है। पहिले पुनर्जन्मके उपयोगी नवीन मनोमय कोषके उत्पन्न होने पर देवता, पूर्वकर्म के अनुसार नया प्राणमय और अन्नमय कोष तयार कर देते हैं, उसका आश्रय करके जीव फिर भूलोक में आता है।

जीव के भाग्य में ऐसा आवागमन अनेकों बार संघटित होता है। अन्त को जीव को त्रिलोकी में घूमते २ तृष्णा रहित होने पर अति ऊँचे लोक के लिए इच्छा और शांतिमय अनन्त जीवनके

लिए लालसा होती है। क्रमसे इस पृथिवी के सकल ही पदार्थों में उसकी तृष्णा दूर होजाती है। ध्यान में आनन्द मालूम होता है, पूजा में रुचि होतीहै, दुर्बल की सहायता करनेको मन चाहता है। उस में जीव को फिर इन सकल कोषों की सहायता से आनन्द का अनुभव करने की इच्छा नहीं रहती है, यह सब केवल परोपकार के उपयोगी प्रतीत होने लगते हैं। उस समय वह इस देह में रहकर अति ऊँचे लोक में स्थित होता है। केवल देहयंत्र ही इस लोक के कार्य में तत्पर होता है, उस समय वह देह में स्थिति करता हुआ ईश्वरसम्बन्धी कार्यों में ही जीवनदान कर देता है या ब्रह्म में जाकर मिलजाता है।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।
[बृहदारण्यक १।५।१६

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इन तीनको त्रिलोकी कहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥ २८ ॥
(गीता २ अ०)

जो जन्मा है उसका मरण अवश्य होगा और जिसका मरण होगा वह जन्म अवश्य लेगा, इसलिए हे अर्जुन ! तुमको ऐसी अवश्य होनी के विषय में शोक नहीं करना चाहिये ॥२७॥ सब जीव अव्यक्त से उत्पन्न हुए हैं दो दिन के लिए व्यक्तभाव से खेलते फिरते हैं, मरण के अनन्तर फिर अव्यक्त आकार के हो जाते हैं, इस लिए हे भारत ! जो जैसा का तैसा होजाता है, उस के लिए शोक क्या करना ॥ २८ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८॥

एक सहस्र युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और एक हजार युगकी ही ब्रह्माजीकी रात्रि होती है,इस बातको चतुर पुरुष जानते हैं ॥ १७ ॥ जब दिन होनेका प्रारम्भ होता है तब अव्यक्त से सकल व्यक्तियें प्रकट होती हैं और जब रात्रि होनेको होती है तब सब उसी में लीन होजाती हैं ॥ १८ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्
ते तं भुक्त्वा मर्त्यलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये स्वर्गलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
(गीता ९ अध्याय)

जो त्रिवेदवेत्ता पण्डित कामनाके वशमें होकर अनेकों यज्ञकर यज्ञशेष सोम को पीतेहुए स्वर्गगति की प्रार्थना करते हैं वह पाप रहित होकर पवित्र देवलोक में पहुंच स्वर्गराज्य में नानाप्रकार के दिव्य देवभोगों को भोगते हैं॥ २० ॥परन्तु वह सब भोग चिरकालतक नहीं रहते हैं, वह बहुत दिनों तक विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य का क्षय होने पर फिर इस मर्त्यलोकमें आकर जन्म धारण करते हैं, वैदिक कर्मों के करने से जीव इसप्रकार जन्म मरण को पाते रहते हैं ॥ २१ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मों के अनन्तर अन्त में ज्ञानी मुझ को प्राप्त होता है, जब वह यह जानजाता है कि–सब वासुदेव ही है तब वह सब को ब्रह्ममय समझता है, ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है॥ १९॥

—०—

द्वितीयखण्ड

प्रथम अध्याय

संस्कार।

सब ही धर्मों में उन धर्मों को माननेवालों के लिये कितने ही अवश्य कर्त्तव्य कर्म बताए हैं। वह सब कर्म–(१) जीव को सकल आवरण शुद्ध करके (२) देवता ऋषि आदि उच्चतर शक्तिमानों के समीप पहुंचाकर शक्ति पाने में सहायता करते हैं। और (३) अपने चारों ओर स्थित वायु की अवस्थाकी उन्नति करते हुए, सहज में ही मन की एकाग्रता सिद्ध होजाय इसका उपाय करदेते हैं । इस प्रयोजन को साधने के लिए भौतिक पदार्थ, अनेकों प्रकार के आसन, मुद्राएं और तन्त्रों का व्यवहार कियाजाता है।

जो द्रव्य उपयोगी मानकर नियत किएगए हैं. उनका अधिक भाग उच्चतर बिजलीकी शक्तिसे युक्त है और उपास्य देवता की भावना के अनुकूल होने सें उपास्य और उपासक में आकर्षणको स्थापन करते हैं। जैसे श्रीविष्णुपूजा में तुलसी की माला और श्रीशिवपूजा में रुद्राक्ष की माला इत्यादि।

आसन मुद्रा आदिके द्वारा प्राणादि पञ्चवायुका संयम आदि होता है, किसी द्वार से भी देहकी वैद्युतिक शक्ति बाहरी वायुके द्वारा बाहर नहीं निकलती है, किन्तु देहके भीतर ही ऊपर कही रीति से प्रवाहित होकर मनको स्थिर और परम शान्त करदेती है।शब्दका व्यवहार भी इसी उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए किया जाता है। शब्द से प्रकम्पन उत्पन्न होता है और सकल प्रकम्पन समान और नियमित होने के कारण सूक्ष्म देह में भी प्रकम्पन

उत्पन्न करसकते हैं। क्योंकि–सूक्ष्मदेह समान और अत्यन्त क्रिया शक्तियुक्त होता है। सूक्ष्मशरीर के इन सब प्रकम्पनों के नियमित होनेपर जीव के चित्तकी स्थिरता, ध्यानशक्ति और साधनशक्ति बढ़जाती है। सुसम्बद्ध शब्दसमूह के बल से देवता और ऋषि साधना के समीप को खिंचकर उसकी सहायता करते हैं। विशेषतः सुग्रथित शब्दसमूह की शक्ति से विपरीत शक्तियें और अनिष्टकारक वैद्युतिक शक्तियें नष्ट होजाती हैं और साधकके चारों ओर की अवस्था सुखकारक होजाती है।

ऐसे सुग्रथित शब्दसमूह का नाम मंत्र है। मन्त्रों के शब्द इस प्रकार से गुथेहुए हैं कि–उनके उच्चारण से एकप्रकारकी शक्ति उत्पन्न होती है। शब्दों के बदल जानेपर शक्ति में भी परिवर्त्तन वा हानि होती है, इसलिए मन्त्रों की शब्दशृङ्खला न बदली जासकती है न उसको दूसरी भाषा में लायाजासकता है। मन्त्रोंका अनुवाद करने पर वह अनुवाद मन्त्रोंका काम नहीं देसकता क्योंकि मन्त्र साधक के मनमें के भावके सूचक नहीं हैं केवल शक्ति के उद्बोधकमात्र हैं।

मन्त्रोंके विषय का और भी गूढ़ रहस्य जाननेकी आवश्यकता है। जो पुरुष किसी मन्त्रके द्वारा साधन करै, उसका जीवन सद्भाव से परिचालित होना चाहिये। नहीं तो मन्त्रसाधन से इष्ट न होकर अनिष्ट होने की सम्भावना है, क्योंकि–मन्त्र सूक्ष्मशरीर में कार्य करके उसको कुत्सित भाव और खोटी वासना के प्रतिकूलभाव से गठित करता है, उससे सूक्ष्मदेह में जो प्रकम्पन उत्पन्न होता है, वह कुवासना और कुभावके आलोडन से उत्पन्न हुए प्रकम्पन का विपरीतधर्मी है। उन दो भिन्नधर्मी कम्पनों के परस्पर टकराने से सूक्ष्मदेह विच्छिन्न होसकता है। मनका सत्भाव होनेपर ऐसा नहीं होता है, वह सत्भाव चाहे जितना दुर्बल हो मन्त्रकी सहायता ही करता है, प्रतिकूलता नहीं करता है।

मंत्र को ऊँचे स्वर से उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं है मनही मनमें उच्चारण करने से उसकी शक्ति बढजाती है, क्योंकि वह स्थूल देह के ग्रहण करने में न आने से केवल सूक्ष्मदेह में ही पूर्णरूप से कार्य करती है।

हिंदूजीवन के कर्मदण्ड में संस्कार ही प्रधान हैं, क्योंकि-उन से उत्पन्न हुआ जीव उत्तरोत्तर संस्कृत होकर कार्य का अधिकारी होता है। प्राचीन समय में असंख्य संस्कार थे, उनमें दश प्रधान हैं। आजकल इन दशमें भी कोई२ हीं प्रचलित हैं उन दशमें से ७ संस्कार शैशव अवस्था के है, जिन में से छठे का नाम अन्नप्राशन है। यह सर्वत्रही प्रचलित है। अन्नप्राशन के समय बालक को अन्न भोजन करने को दियाजाता है। सातवां चूड़ाकरण है, इसी के साथ कर्णवेध भी होजाता है। आठवां संस्कार उपनयन है इस समय बालक को गुरु के समीप लेजा कर यज्ञसूत्र के साथ गायत्री दिलवाते हैं और उसी समय से उसका द्विजों में गिनती होती है।

उपनयन संस्कार से ही छात्रजीवन का प्रारम्भ है। पहिले इस समय से बालक ब्रह्मचर्य को धारण करके शास्त्र की शिक्षा पाते थे। समावर्त्तन संस्कार के द्वारा छात्रजीवन की समाप्ति होती है, तदनन्तर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। दशवां संस्कार विवाह है। इस संस्कार से छात्र गृही होकर गृहस्थ को अवश्य पालन करनेयोग्य साधनों का दायी (जिम्मेवार) होता है।

आजकल भारतवर्षमें प्रायः उपनयन और विवाह संस्कार ही समारोह के साथ कियेजाते हुए देखने में आते हैं। विवाह भी आजकल छात्रजीवन के समाप्त होने से पहिलेही करदिया जाता है। इस प्रकार दोनों संस्कारों के कर्त्तव्य का बोझा एकसाथ ऊपर आपड़ने से बालकों का बड़ा अनिष्ट होता है। हाय न जाने कब भारत में वह पहिले से नियम प्रचलित होंगे।

एकः शब्दः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।

(पातञ्जल महाभाष्य ६ । १)

एक शब्द सुन्दर रीति से युक्त होने पर स्वर्गलोकमें कामना को पूरा करने वाला होता है ।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो
न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति-
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ ५२ ॥

(पाणिनीय शिक्षा)

स्वर वर्णहीन मन्त्र का प्रयोग वृथा है, उससे मंत्रका अर्थ प्रकाशित नहीं होता और उसका बल विपरीत होजाता है, वह वाक्य वज्रसमान होकर यजमान को मारता है, जैसे कि-स्वरभ्रष्ट होने के अपराध से इन्द्रशत्रु वृत्रासुर का मरण हुआ ॥ ५२ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

(मनु० २ अ०)

पवित्र वैदिक कर्मोंके द्वारा द्विजों के निषेक आदि पुण्य कर्म होते हैं, उनके द्वारा शरीर का संस्कार करना चाहिये, जो कि-इस लोकमें और परलोक में भी पवित्र करनेवाला है ॥ २६ ॥

चित्रकर्म यथा लोके रागैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारविधिपूर्वकैः ॥

(पारस्करगृह्यसूत्रे आंगिरसवचनम्)

जिसप्रकार लोक में धीरे २ रङ्ग भरकर चित्रकारी का काम ठीक कियाजाता है, तैसे ही विधिपूर्वक संस्कारों के करने से ब्राह्मणता का उदय होता है ॥

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ॥

त्रेताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः ॥

(पारस्करगृह्यसूत्रे व्यासवचनम्)

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्त, स्नान, विवाह, अग्निपरिग्रह और त्रेताग्निपरिग्रह यह सोलह संस्कार कहे हैं ॥

—०—

द्वितीय अध्याय

श्राद्ध

श्राद्ध क्रिया के द्वारा इस लोकमें निवास करने वाले कुटुम्बी परलोकवासी जीवों की सद्गति के लिये सहायता करते हैं। जो जीव भौतिक देह को त्यागकर प्रेतयोनि को प्राप्त होगए हैं, प्रेतकार्यरूप श्राद्ध के द्वारा उनकी सहायता होती है। मृत्युके अनन्तर अन्नमय कोष श्मशान भूमि में लेजाकर भस्म करदिया जाता है और भस्म होने से बचाहुआ भाग जलमें वा गङ्गा की धारमें डालदिया जाता है। अन्नमय कोषका ध्वंस होनेपर क्रमसे प्राणमय कोषका भी ध्वंस होजाता है। यह ध्वंसका कार्य शवदाह के मन्त्रादि के द्वारा होता है। भस्म करदेना ही मरे हुए शरीर के ध्वंस का सबसे उत्तम उपाय है और वह मरेहुए तथा जीवित कुटम्बी जीवोंका विशेष प्रयोजनीय है क्योंकि-जबतक अन्नमय कोष का ध्वंस नहीं होता है, तबतक आकर्षणवश प्राणमयकोष उसके समीपके स्थानमें ही रहता है, अतः जीवको भी पृथिवीमें आवद्ध रहना पड़ता है। इसके सिवाय कबर में के मृत शरीरके पाक से उत्पन्न हुई विषैली भाफ उसके सम्बन्धियों के लिए हानिकारक होती है।

दाहके बाद श्राद्ध करने पर द्रव्य, गुण और मन्त्रशक्ति के

बलसे मनोमय कोषके सब उपादानों का संस्कार होजाता है। वर्ष के अन्त में सपिण्डीकरण के द्वारा जीव प्रेतलोकमें से पितृ लोक में जाता है, उसी समयसे वह जीव पितरों में गिनाजाता है और भुवर्लोक के सूक्ष्मदेह में वास करता है। सात पुरुषाओंमें से एक के भूर्लोक और शेष छः के भुवर्लोक में रहने पर वह परस्पर की सहायता करसकते हैं। जब जीव स्वर्गमें पहुंचजाता है तब फिर उसके निमित्त श्राद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है।

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दानं श्राद्धमुदाहृतम्॥

(ब्रह्माण्डपुराणम्)

पितरों के उद्देश्य से सदा श्रद्धा के साथ, देश, काल और पात्र के भेद से जो शास्त्र की आज्ञानुसार योग्य ब्राह्मणों को दिया जाता है, उसको ही श्राद्ध कहते हैं।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ २०३॥

[मनु ३ अ०]

अन्न, जल दूध, वा फल, मूल अपनी शक्तिके अनुसार लाकर प्रतिदिन पितरों के लिये श्रद्धा के साथ श्राद्ध करै॥ २०३॥

[मनु० १२ अ०]

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥ १६॥
तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥ १७॥
यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥ २०॥

(मनु १२ अ०)

दुष्कर्म करनेवालों के लिये पञ्चमहाभूतों की तन्मात्राओं से

परलोक में और एक प्रेतशरीर पीड़ा भोगनेके लिए बनता है, ॥ १६॥ मरणके अनन्तर उस शरीरमें यमकी दीहुई पापोंकी फल रूप अनेकों यातनाओं को दुराचारी जीव भोगते हैं, तदनन्तर वह देह फिर पञ्चतन्मात्राओंमें मिलजाते हैं॥ १७॥ जीव यदि अधिक धर्म और थोड़ा अधर्म करता है तो पृथिव्यादि सूक्ष्मभूतों के द्वारा शरीरी होकर स्वर्ग में सुख भोगता है॥ २०॥

चितामोक्षप्रभृति च प्रेतत्वमुपजायते।

[गरुणपुराण २।५।३६]

चितामें जलकर जब जीव देहमुक्त होताहै तबहीं से वह प्रेत होता है॥

वर्षं यावत् खगश्रेष्ठ स्वर्गे गच्छति मानवः।
ततः पितृगणैः सार्द्धं पितृलोकं स गच्छति॥
दत्तैः षोडशभिः श्राद्धैः पितृभिः सह मोदते।
पितुः पुत्रेण कर्त्तव्यं सपिण्डीकरणं सदा॥

[गरुड़पुराण २।१६।६।७।२०]

अब हे खगश्रेष्ठ सुनो सालभर तक जीव मार्ग में विचरता है, तदनन्तर पितरों के साथ मिलकर पितृलोक में जाता है। सोलह श्राद्ध अर्पण करने से पितर सुख से रहते हैं, इस लिए पुत्र को पिता का सपिण्डीकरण करना चाहिये॥

तृतीय अध्याय

शौच

देहकी पवित्रता रखनेके लिए शौच की आवश्यकताहै, उस से स्वास्थ्य तथा देह में बल रहता है। रोग होते हीं जानलो कि-किसी प्राकृतिक नियम के पालन में गडबडी हुई है। ऋषि मुनि जानते थे कि-सकल प्राकृतिक नियम जगदीश्वर के नियम हैं। उसका ही अस्तित्व जहां तहां प्रकट होरहा है। जीव पञ्चभूतमय शरीर में बंधाहुआ उसका ही अंश है, इसलिए उन्होंने प्राकृतिक नियमों के पालन को धर्मकार्य और कर्त्तव्यरूप से बताया है।

दीखनेवाला देह और उसका प्रतिरूप प्राणमय कोष, भौतिक सामग्री से गठित है इसकारण भौतिक उपायों से ही उनकी शुद्धि करनी चाहिये, किसप्रकार शुद्ध रखना होगा, इस बातको जानने के लिये उनका स्वरूप मालूम होना चाहिये ।

दीखने में आनेवाला देह अन्नमय कोष हमारे भोजनके अन्न का, पीनेके जल का और चारों दिशामें स्थित पदार्थोंके छोड़े-हुए अणुओं से उपादान को लेकर बनता है । चारों दिशा में स्थित पदार्थों केछोड़ेहुए अणुओं से हमारे शरीर बने हैं, यह बात पहिले तो असम्भवसी मालूम होती है, परन्तु विचार करने पर ठीक सिद्ध होती है । हमारा देह मृत पदार्थोंका बना नहीं है मृत पदार्थ भी जगत् में नहीं हैं । सकल उपादानके पदार्थ अतिसूक्ष्म सजीव परमाणुओं के समूह से गठित हैं सजीव अणु भी सजीव परमाणुओं की समष्टि हैं । धूलि के एक कणमें असंख्यों सजीव अणु हैं, वह सब सूक्ष्म जीवोंकी श्रेणी हैं, उन में दूरबीन से देखने योग्य जीवाणु (microbe) नामक जीव ही देखने में आने वाले जीवों में भरेहुए हैं । ऐसे अनेकों जीवाणु और अतिसूक्ष्म सजीव अणुओंसे वायुमण्डल भरा हुआ है हमारे देह और अन्य समस्त वस्तुएं भी ऐसे ही जीवाणु और सजीव अणुओंके समूह रूप ही हैं । पत्थर, पेड़, पशु, मनुष्य घरमें के सामान और पहरने के वस्त्र आदि सकल पदार्थों में ऐसे ही असंख्यों अणु हैं, वह बराबर रातदिन तैसे ही असंख्यों अणुओं को ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं । हमारे समीपके और रचित पदार्थों के साथ ऐसे अणुओंका विनिमय (अदला बदला) रातदिन चलता रहता है । यदि हम स्वस्थ होनेकी वासना करें तो हमको शुद्ध अणुओं का ग्रहण और अशुद्ध अणुओंका त्याग करना चाहिये शौच रूपी नियम के द्वारा हम ऐसा करनेके उपाय को जान सकते हैं ।

हम जो भोजन करें, उसके पदार्थ भी पवित्र होने चाहिये, सब

ही वस्तुएं उत्तरोत्तर या तो जीवनीशक्ति को प्राप्त करती हैं, नहीं तो जीवनका ह्रास होने से मृत्यु के मुखकी ओरको बढ़ती चली जाती हैं, या तो उनके गठन का कार्य चलता रहता है, नहीं तो ध्वंसके कार्य का प्रारम्भ होजाता है, पवित्र भोजनके पदार्थोंकी जीवनी वृद्धिकी ओर को होती है । नए पत्ते, फल मूल, धान्य आदि जीवनी शक्तिसे भरे हुए हैं हम उनको भोजन करके अपनी जीवनीशक्ति को बढ़ाते हैं, जो यातयाम (बासी) होता है वह अपवित्र होता, है क्योंकि—उसकी जीवनी का अभाव होने लगता है। मांस अपवित्र है, क्योंकि—उसमें जीवन नहीं है, अतएव वह सड़ने लगता है । मांसभक्षण करने से देह पुष्ट होनेपर भी उद्भिद्-भोजी देहकी अपेक्षा वह रोगों के बहुत समीप होता है, मांसभक्षी का घाव सहज में अच्छा नहीं होता है, उसको ज्वर भी बड़े ही वेग से आता है ।

तरल द्रव्यों में शुद्ध जल ही सब से श्रेष्ठ है । चाह आदिऔषधियों से सिद्ध जल थोड़ासा पीने में हानि नहीं, किंतु कुछ उपकार ही होता है । दूध सब प्रकार से पवित्र पीने योग्य और आहार की वस्तु है । जिस किसी भी पीने के द्रव्य में सुराका मेल है वह अपवित्र और निःसंदेह शरीर को बडाभारी हानिकारक है। झाग उगलनेवाली सुरा में सड़ने का आरम्भ होता है, इसलिये वह देहपेशी को और मस्तिष्क को विषसमान हानिकारक है । विशेष कर गरम देश में तो इस का समान हानिकारक दूसरा पदार्थ है ही नहीं, इससे असमयमें बुढ़ापा और मृत्युतक होजाती है । इस देश में अधिकता के साथ व्यवहार में आनेवाली और स्वास्थ्य की हानिकारक भांग के जलको भी अतीव अशुचि और जड़ता को उत्पन्न करदेवाली जानना चाहियें ।

शुद्ध खान-पानकी वायु भी शुद्ध ही चाहिये । हम श्वास छोड़ते समय 'कार्बनडाइअक्साइड्, नामक गैस को छोड़ते हैं वह

भाफ मूर्छित करदेनेवाली है, यदि हम थोड़े चौड़े स्थान में घिरे-हुए रहते हैं तो उस स्थान का वायु इस भाफ से दूषित होकर श्वास लेनेके अयोग्य होजाता है, विशेष कर श्वास छोड़ते समय हमारे देहके भीतरसे त्तयित अणु छूटते हैं, यदि वह शुद्ध वायु के साथ दूसरे स्थानको नहीं चलेजायँगे तो फिर श्वास लेनेपर दुसराकर श्वास की नलींमें को जाकर शरीरमें विष फैलादेंगे।

देह गठन के लिये केवल विशुद्ध उपादान को ग्रहण करने से ही काम नहीं चलेगा, किन्तु देह का ऊपर का भाग भी स्नान आदि के द्वारा उत्तमरूप से स्वच्छ रखना चाहिये। प्रतिदिन अधिक नहीं तो एकबार तो स्नान करना ही चाहिये और स्नान के समय अच्छी तरह से शरीर को पोंछना चाहिये, ऐसा करनें से शरीर परसे धूलि आदिके कण दूर होनेपर चमड़ा साफ रहकर अपने कामको ठीक२ देगा। हाथ पैर या शरीरका कोई भी भाग अपवित्र हुआ मालूम हो तो उसको उसी समय धोना चाहिये। और ऐसा करनेके पहिले तथा पीछे हाथ पैर धोना नहीं भूलना चाहिये बिना धुले हाथसे भोजन करने पर भोजन के पदार्थ खराब होसकते हैं। भोजन करके नित्य ही हाथ पैरोंको अवश्य धोडालना चाहिये। जो वस्त्र देह से चिपटाहुआ रहै, उसको भी नित्य धोना चाहिये।

हिंदू सदा से ही बाहरी जगत् को अन्तर्जगत् मानते आये हैं, इसलिए उनकी दृष्टि में बाहरी शुद्धि की समान भीतरी शुद्धि भी परम आवश्यक मानीगई है। बाहरी शुद्धिके साथ २ भीतरी शुद्धि के लिए मन्त्र आदिका जप करना भी वह आवश्यक समझते रहे हैं, उनका हरएक काम धर्मबन्धन में बँधाहुआ है।

पाठक अब समझगए होंगे कि–ऋषि मुनि शुद्धि का क्यों आग्रह करते थे। जिस पुरुष का देह साफ नहीं रहता और कपड़े मैले रहते हैं, उसके समीप का वायु अपवित्र कणों से भरजाती है, इसकारण उसके समीप में रहनेवाले उस विषैले वायुसे रोगी

होसकते हैं। केवल अपने ही लिये नहीं, समीप के प्राणी और वस्तुओं के लिये भी हमारे शौच (पवित्रता) की आवश्यकता है मलिन पुरुष, मलिन वस्त्र और मलिन घरको भी विषका आश्रय स्थान और समीपके पुरुषों के लिए अमङ्गलकारक जानो।

प्राणमय कोष की पवित्रता उसके भीतरी वैद्युतिक सोते पर निर्भर है। यह समीप की वस्तुओंकी तड़ित् शक्ति के द्वारा परि-चालित होती है, इसलिए हमको इस विषय में सावधान होना चाहिये। प्याज लहसुन आदि कितने ही उद्भिद् पदार्थ अन्नमय कोष को हानिकारक न होनेपर भी प्राणमय कोषकी बड़ी हानि करनेवाले हैं। इनकी वैद्युतिक शक्ति मांस की वैद्युतिक शक्ति से अधिक हानिकारक है शराब से भी प्राणमय कोष को बहुत हानि पहुंचती है। दूसरे के प्राणमय कोषके द्वारा भी अनिष्ट होनेका सन्देह है, अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा भी प्राणमय कोष का इष्ट अनिष्ट होजाता है, इसलिए दूसरेका सूक्ष्म शरीर हमारे सूक्ष्म शरीर में को कार्य करके प्राणमय कोष का इष्ट अनिष्ट करसकता है, अतः कुसङ्गको सर्वथा त्यागना चाहिये। सूक्ष्मशरीरकी पवित्रता, देही की वासना और सङ्कल्प आदि की पवित्रता से होती है और भौतिक देहकी पवित्रता भी बनी रहती है। यदि जीवकी वासना और सङ्कल्प अपवित्र हों तो उसका अन्नमय कोष आदि भी पवित्र नहीं रहसकता। यदि कोई शौच आचारके नियमोंका पूरा२पालन करै तथापि वह यदि घमण्डी, क्रूर, कामी तथा सन्दिग्धचित्त हो तो बाहरी शुद्धिकेद्वारा अन्तःशरीरको पवित्र करनेकी चाहे जितनी चेष्टा करनेपर भी उसका अन्तःशरीर अधिकतर अपवित्र ही होता चलाजायगा, देवता और ऋषियों की दृष्टि में ऐसा पुरुष सदा अपवित्र है:

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्नं निषेकञ्च दूरादेव समाचरेत्॥ १५१॥
(मनु० ४ अ०)

पेशाव और पैर धोना सोने बैठनेकी जगह से दूर करना चाहिये, जूठन और न्हायाहुआ जल न छुए ॥ १५१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

(मनु० २ अ०)

दोनों सन्ध्याकाल में पहिले सावधानीके साथ आचमन करै, फिर पवित्रस्थानमें बैठकर मन्त्रको जपता हुआ विधिपूर्वक उपासना करै ॥ २२२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः ।
भुक्त्वाचोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

(मनु २ अ०)

द्विजों को चाहिये कि-हाथ पैर धो एकाग्र होकर भोजन करैं और फिर जलसे आचमन करके इन्द्रियों को धोवैं ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्त्तॄणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

(मनु २ अ०)

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मट्टी, मन जल, उपाञ्जन, वायु, कर्म, सूर्य और काल, यह मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं ।१०५।

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥ १०० ॥

(मनु ५ अ०)

शरीर जलसे शुद्ध होता है, मन सत्य से पवित्र होताहै, विद्या और तपसे जीवात्मा शुद्ध होताहै तथा ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह वर्त्तते ॥ ३८ ॥

(गीता ४ अ०)

इस संसार में ज्ञानकी समान पवित्र दूसरी वस्तु नहीं है ।३८।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति नियच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

(गीता ९ अध्याय)

घोर दुराचारी होने पर भी जो अनन्य मनसे मेरी शरण लेता है, उसको निःसंदेह साधु जानो, क्यों कि वह ठीक कर्त्तव्य का पालन करता है ।। ३० ॥ वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शान्ति पद पाता है, हे अर्जुन ! मेरे भक्तपर कभी विपत्ति नहीं आती है ३१

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

(गीता १८ अ०)

इन्द्रियों के सकल धर्मों को त्यागकर श्रद्धा के साथ एक मेरी ही शरण ले, शोक न कर तब मैं निःसन्देह तुझ को पापमुक्त करूंगा ॥ ६६ ॥

चतुर्थ अध्याय

पञ्चयज्ञ

हम यज्ञविधि के वर्णनमें कहचुके हैं कि-मनुष्य का आत्मत्याग ही प्रधान यज्ञ है । सनातनधर्म में इस धर्मके अनुयायियोंके लिए उपयोगी जो नियम बताए हैं, इस समय हम उनकी ही आलोचना करेंगे ।

शास्त्रमें जितने प्रकार के यज्ञ लिखे हैं, इससमय उन सब का वर्णन न करके केवल नित्यकर्त्तव्य पञ्चमहायज्ञ के विषय पर कुछ कहेंगे । उन पञ्चयज्ञोंके नाम यह हैं-ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ । इन पांचोंकी बाहरी क्रिया और अन्तर्लक्ष्य अर्थ है । अन्तर्लक्ष्यार्थके द्वारा यज्ञकी मुख्य शक्ति समझमें आती है, इस समय उस अर्थ को समझनेके लिये ही चेष्टा करना है ।

ऋषियज्ञ की बाहरी क्रिया वेद को पढ़ना और पढाना है, प्रति

दिन सबको ही किसी पवित्र ग्रन्थ का पाठ करना चाहिये,ऐसा करने से धीरे २ उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति करानेवाले ज्ञानका उदय होता है, उस से पुरुष अपनी दशा और कर्त्तव्यको समझ सकता है। प्रत्येक पुरुषको उचित है कि अपनी अपेक्षा अज्ञानी को ज्ञान का उपदेश करै। इसी लिए मनुजी ने इस यज्ञका नाम अध्यापन रक्खा है। हरएक बालक को प्रतिदिन यह यज्ञ करना चाहिये। मन्त्र उपनिषद्, भगवद्गीता, अनुगीता, हंसगीता या अन्य किसी पवित्र ग्रन्थ के दो चार श्लोकों का तो मन लगाकर पाठ वा विचार करना ही चाहिये। पाठके कम बढती परिणामके अनुसार पढेहुए विषयका निश्चित ध्यान ही अधिक फलप्रद होता है। अन्तर्लक्ष्य अर्थ यह है कि-त्यागके लिए ही अध्ययनकी आवश्यकता है, जो कुछ सीखै सो दूसरे के लिये।

देवयज्ञ की बाहरी क्रिया होम करना है। देवता प्रकृति के जिन सकल कार्योंके द्वारा हमारी सहायता करते हैं उसके स्मरण के लिये ही होम करना है अर्थात् उनसे पायेहुए द्रव्य का प्रतिफल रूप हमारा अपने अधिकृत द्रव्य का अर्पण करना। अन्तर्लक्ष्य अर्थ यह है कि—इस जडातीत लोकसमूह के साथ जो हमारा सम्बंध है उस का अनुभव करके सब लोकों की सापेक्षता का अनुभव करना। सब प्राणियोंमें समदृष्टि रखना ही उसका चरम फल है।

पितृयज्ञ की बाहरी क्रिया तर्पण है। अतीत पुरुषाओं के हम महाऋणी हैं इस बातको स्वीकार करना इसका अन्तर्लक्ष्य अर्थ है। जो हमसे पहले पृथिवी पर आकर बड़े परिश्रम के साथ पृथिवीको आजकल की उपयोगी बनागए हैं उनका कृतज्ञ होना। जो अपने को पूर्वपुरुषों का ऋणी नहीं समझते हैं, उनमें मनुष्यता ही नहीं है।

नृयज्ञ की बाहरी क्रिया अतिथिसेवा है। आर्योंके वंशधरोंको

प्रतिदिन अपनी अपेक्षा दरिद्रोंको यथाशक्ति अन्नका दान देना चाहिए। इसका भीतरी लक्ष्य यह है कि-सबको चाहिये कि—दरिद्रोंका पोषण करें, भूखों को अन्न दें, वस्त्रहीनों को वस्त्र दें, गृहहीनों को आश्रय दें अर्थात् दुःखितों का दुःख दूर करें, क्यों कि धनी पुरुष दरिद्रों के भण्डारी हैं।

भूतयज्ञ की बाहरी क्रिया-भोजन से पहिले प्राणियोंके लिये भूमिमें अन्न देना और भोजन कर चुकने पर श्वानादि के लिये बचीहुई जूठनको उपयुक्त स्थानपर रखदेना। और गूढ अभिप्राय यह है कि-हम सबोंको अपने व्यवहार अन्य जीवों के लिये दया पूर्वक करने चाहियें, क्योंकि-सब जीव परस्पर सापेक्ष हैं।

यह पञ्चयज्ञ मनुष्यको उसके निकट के बडे,समान और हीन प्राणियों के साथ व्यवहार की शिक्षा देते हैं। इन का अभ्यास होनेपर जातीय समाज और परिवार की उन्नति सुख और साम्य भावके साथ स्थापित होसकती है। इसके द्वारा जीवनचक्र ईश्वर के अभिप्राय के अनुसार चलता है, और जगत्का क्रमविकाश ठीक होता है। इसके द्वारा मनुष्य सीखता है कि मैं अकेला नहीं हूं, हम अनेक हैं और परस्पर सबका सम्बन्ध है तथा सवसाधारण के सुख और उन्नति परही उसका सुख और उन्नति निर्भर है

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ ७०॥
(मनु० अ० ३)

अध्यापन-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, बलि-भूतयज्ञ और अतिथिपूजन- नृयज्ञ कहाता है॥ ७०॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम्॥ ७५॥
[मनु० अ० ३]

पुरुष का स्वाध्याय और दैवकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, जो

दैवकर्म करता है वह चराचर विश्वका पोषण करता है ॥ ७५ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धेन नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

(मनु ३ अ०)

ऋषि, पितर, देवता, अतिथि और भूत, सदा गृहस्थ कुटुम्बियों से आशा रखते हैं, यह जानकर उनकी आशाको पूर्ण करना चाहिये ॥ ८० ॥ स्वाध्याय से ऋषियोंको, यथाविधि होम करके देवताओंको, श्राद्ध करके पितरोंको अन्नदान से मनुष्योंको और भूतवलि से सकल भूतों को प्रसन्न करै ॥ ८१ ॥

पञ्चम अध्याय

उपासना।

पञ्चयज्ञों के द्वारा धर्मपिपासु मनुष्य की पिपासा शान्त नहीं होती है। ईश्वरके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेको उसकी बहुत ही वासना होता है, उस के क्षुद्र प्राण जगत्प्राण के अंश हैं, उन जगत्प्राण की पूजा किये विना मन की तृप्ति नहीं होती है। जब परब्रह्मतत्त्वका अभ्यास करते हुए, जगत्‌के हित और लोकशिक्षा के लिये महाभारत तथा ब्रह्मसूत्रकी रचना करके भी व्यासदेवके मनको शान्ति प्राप्त नहीं हुई तब वह नारदजीकी सम्मातसे ईश्वर के गुणोंका कार्त्तन करने में प्रवृत्त हुए, उन्हों ने श्रीमद्भागवत में भगवान् की लीलाओं का वर्णन करके शांति पाई।

उपासनाके द्वारा ईश्वर में प्रेमभक्ति और उसको पानेकी इच्छा प्रकाशित होती है, ईश्वर के साथ मिलने की वासना बहुत ही होती है। क्रम से जीवात्मा परमात्मा का अभेदज्ञान उत्पन्न

होता है, उसकी पूर्णता के श्रुतिगान का नाम ही उपासना है। अपने को अपूर्ण जानकर, उनके प्रेमकी प्रार्थना, उन की शक्ति की उपलब्धि, उन की प्रकृतिका ध्यान और उनके स्वरूप का बोध होने के लिये अत्यन्त अभिलाषा आदि अनेकों व्यापारों के साधन का अवस्था भी उन्नति पाने लगती है।

चाहे साधारण ग्रामीण किसान हो, चाहे बड़ाभारी दार्शनिक पण्डित हो, उसके प्राण में जिस समय ब्रह्मज्ञानकी लालसा होती है, उसीसमय उपासनाके द्वारा उसकी बड़ी इच्छा प्रकाशित होजाती है। साधारण किसानसे तत्त्वज्ञानी पण्डित तक सब ही ब्रह्मके जन्य हैं, यह ही उपासना का प्रयोजन है। यह उपासना साधक के भाव और ज्ञान के अनुसार भिन्न २ प्रकार की होने पर भी वास्तव में एक ही है, इस में कुछ सन्देह नहीं है।

अव्यय सर्वमय उपासना की वस्तु नहीं है। उपासना करते समय उपास्य पदार्थ के बोधके लिये गुण की आवश्यकता है। गुणके न होनेसे मन एकाग्र ही कैसे होगा ! और भाव का उदय भी कैसे होगा ?। सगुण ब्रह्म जिसको कि-ईश्वर कहते हैं, उस की ही उपाना होसकती है, उसकी ही स्तुति और ध्यान किया जासकता है। उसको ही शिव वा विष्णु, महादेव वा नारायण, दुर्गा वा लक्ष्मी, गणेश, इन्द्र, अग्नि सरस्वती अथवा राम, कृष्ण बुद्ध आदि अवताररूपसे भावना कियाजासकता है। परन्तु चाहे जिस नाम वा मूर्त्ति का अवलम्बन करके उपासना करो उस से उस एक ईश्वर की ही उपासना होती है।

बालकों के मनमें अनेकों वार यह सन्देह होता है कि—किस कारण शास्त्र में कहीं शिवको और कहीं विष्णु को परमपुरुष कहा है? किसकारण एक पुराण एककी प्रधानता बताता है तो दूसरा पुराण दूसरे की प्रधानता का वर्णन करता है ?। यह सब उस एक ईश्वर के ही रूपभेद हैं, सब साधक एक ईश्वर की ही

पूजा करते हैं, जिस मूर्त्ति में उसकी भक्ति करना चाहते हैं उस मूर्त्ति में ही उस की पूजा करते हैं। परन्तु वह मूर्त्ति की पूजा नहीं करते हैं, मूर्त्ति तो केवल परिच्छद रूप है। भक्त उस परिच्छदमें ढके हुए भगवान्‌की ही पूजा करते हैं स्त्री पतिकी भक्ति करती है,उस की पोषाक की भक्ति नहीं करती है तथापि पोषाक पति को प्रिय होती है। इसलिये उसमें भी प्रेम दिखाती है। भक्त ईश्वरके प्रेम सुन्दरता और शक्ति आदि का पक्षपाती होता है, जिस मूर्त्ति में यह सब बातें प्रकाशित होतीं हैं उस मूर्त्तिमें ही उसकी पूजा करता है। हम क्षुद्र होनेके कारण यद्यपि उसकी अनन्त शक्ति की बहुत थोडी धारणा करसकते हैं, तथापि वह सब उसकी ही हैं

इस तत्त्व को न समझने के कारण ही भिन्न २ धर्मावलम्बी और एक ही धर्म में के भिन्न २ संप्रदाय वाले निर्बोधोंकी समान परस्पर विवाद करते हैं। सब एक ईश्वरकी ही उपासना करते हैं केवल नाम और परिच्छद का ही भेद है उपास्य वस्तुमें कुछ भेदभाव नहीं है।

पूजा, उपासना का एक साधारण सरल भेदमात्र है पूजा में चित्र या मूर्त्ति का प्रयोजन होता है, मन्त्र पढ़े जाते हैं और पुष्प आदि समर्पण कियेजाते हैं, यह सब पूजा की बाहरी सामग्री है भीतरी सामग्री प्रेम और भक्ति है, कि-जिसके द्वारा साधक का चित्त रूपसे सत्पदार्थमें लगता है। पूजाके लिये कभी कुलदेवताकी और कभी गुरुकी आज्ञानुसार इष्टदेवता की मूर्त्ति वनाई जाती है

उपासना कहने से ध्यान, नित्य सन्ध्या आदि अनेकों पूजा के अंगोंका बोध होता है, यह सब सनातनधर्मावलम्बियों को सावधानी के साथ करने चाहियें। सन्ध्या दो प्रकारकी है, एक वैदिक और दूसरी तान्त्रिक, बालकों को अपने वर्ण और कुलाचार के अनुसार करनी चाहिये। पहिले योग्य गुरु से उसको सीखें फिर नित्य इसको करें। ध्यान करने की विशेष अवस्था

है, बालकों के लिये नहीं हैं, युवावस्था में पहुंचने पर आरम्भ करना चाहिये।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥ १५॥
(श्रीमद्भागवत १। ५)

भगवान की भक्ति से हीन अपार, नैष्कर्म्य, निरंजन, सुविमल ज्ञान भी शोभा नहीं पाता है। फिर वह सकाम कर्म ही कैसे शोभित होसकता है ? कि जो अपवित्र मनसे कियाजाय, या जो सनातन भगवान् को अर्पण नहीं किया है। १५॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्र समचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥
(गीता १२ अ०)

जो पुरुष सबमें समबुद्धि रखकर, सब इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए अनिर्वचनीय, रूपादिहीन, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अविनाशी, कूटस्थ की चिरकाल तक स्वस्थता के साथ उपासना करते हैं, सकल प्राणियों का हित करनेवाले वह मुझको पाते हैं॥३-४॥ जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है उनको बड़े क्लेश सहकर सफलता होती है, क्योंकि-हे पार्थ ! अव्यक्त में निष्ठा बडी कठि-

नता से होती है ॥ ५ ॥ परन्तु जा भक्तिमें भरकर मुझको कर्म अर्पण करके मेरी आराधना करते हैं और अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते हैं, उनकी समान और भक्त नहीं हैं ॥६॥ हे पार्थ ! मुझ में चित्त लगानेवाले उन पुरुषोंका मृत्यु संसारसागर से उद्धार करने में मैं देर नहीं करता हूं ॥ ७ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।६२।
(गीता १८ अ०)

हे अर्जुन ! ईश्वर सकल प्राणियों के हृदय में स्थित होकर यन्त्र पर चढ़ी हुई पुतलियों की समान सकल जीवों को अपनी माया से घुमाता रहता है ६१ हे अर्जुन ! सब प्रकारसे उसकी ही शरण लो तब उसके अनुग्रह से सनातन परमशांत स्थान को पाओगे ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
(गीता ८ अ०)

हे अर्जुन ! जो जिसभाव से मेरी भक्ति करते हैं, मैं भी उन को तैसाही मानता हूं, जो इस मेरे मार्ग का आश्रय करते हैं, वह सब मनुष्य मुझमें ही आकर मिलजाते हैं ॥ ११ ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
गीता ६ अ०

जो २ भक्त श्रद्धाके साथ जिस २ मूर्त्तिमें मेरी पूजा करना चाहता है, उस मूर्त्तिपरही मैं उसकी श्रद्धाको अचल करदेता हूं २१

षष्ठ अध्याय

चार आश्रम

जैसे हरएक व्यक्ति में परस्पर भेद है, तैसे ही प्रत्येक जाति में जातिगत भेद है । पूर्वकाल में हिंदूजाति का क्रम और विभाग प्रकृतिसिद्ध था, सनातनधर्म की विधि ही उसका कारण है, जिस विधि के बलसे यह अति उन्नत, विकसित और साम्यभावयुक्त जातिरूप में परिणत हुए हैं । यह सब भाव सनातनधर्मावलम्बियों के इतने स्वाभाविक हैं कि-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है- 'समत्वं योग उच्यते।' साम्यभाव ही योग है ।

वेद में मनुष्यजीवन को जिस उदारभाव से ग्रहण किया है, वही इस जाति की प्रकृतिगत विशेषता का हेतु है । समस्त पदार्थ ही आत्माके लिये रहे हैं, सब ही आत्मा की इच्छाके बल से हुए हैं । उसकी अनेकों अवस्था में भोग की इच्छाही इस सृष्टि का उद्देश्य है । उसको जगत् में अपनी शक्ति का विकाश करने की इच्छा और स्वप्रकाश बाहरी जगत् का आधिपत्य करने की वासना हुई । वह अनन्तकाल में अन्तर्जगत् का शासक है । वह अक्षय, अनन्त है, अतः उस में व्यस्तता नहीं है । अपनी प्रत्येक अवस्था, जिसमें क्रमशः अभिज्ञता पावै और इसप्रकार सुशृं-खला में और एकसूत्र में अभिव्यक्त हो यही उसकी इच्छा है । ईश्वर ने हमारी इस पृथिवी के अतिनीचे के विभाग से ही क्रम-विकाश का निर्णय किया है । उद्भिज्जों में बीज, मूल, डंडी, पत्ते फूल फल सुन्दर नियम के साथ क्रम २ से प्रकाशित होते हैं । हरएक का उपयोगी स्थान, काल और सुन्दरता है, तिसीप्रकार जीवराज्य में भी बालकपन, किशोर अवस्था, जवानी, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था सुन्दर रीतिसे संघटित होते हैं । मनुष्यमें इस क्रम को उल्लंघन करनेकी और उसको बदल देने की शक्ति नहीं है

परन्तु मनुष्य देहमें स्थित जीवात्मा अपनी अविकाश अवस्था के विषैं भौतिक आवरण में अन्धा होकर अनियमित रूप से अनेकों ओर को जाने की वासना करता है। मनोकामनाके वश में होकर उसको अनेकों समय अधिकार से बाहर की चर्चा में प्रवृत्त करता है। अर्थात् जीवात्माकी जो अवस्था है, उससे अन्य अवस्था के कार्यमें नियुक्त करनेका उद्योग करता है। इससे हर एक अवस्था के क्रम विकाशमें गड़बडी पडती है। बालक जवान होगा, जवान प्रौढता पावेगा, परन्तु वृद्ध फिर भी जवानी का सुख भोगना चाहता हैं, इस के फल से केवल उसकी शान्ति नष्ट होती हैं और उसके बहुत से कर्त्तव्य अधूरे रहजाते हैं।

ऐसी उच्छृङ्खलताका शासन करनेके उद्देश्यसे महर्षियोंने पुरातन आर्यसन्तानोंके लिये जन्मसे मृत्यु पर्यन्त हरएक व्यक्तिका पृथक् २ कर्त्तव्य नियत करदिया है और जीवात्मा के समग्र क्रमविकाश के लिये असंख्य जन्मोंके कर्त्तव्य मार्ग बतलाये हैं। इन दोनों मार्ग में प्रत्येक के चार विभाग हैं, एक जीवके देहको पानेके समय से ले कर देहको त्यागनेके समय पर्यन्त समयके पक्षमें यह चार विभाग चार आश्रम और जीव के पूर्णविकाश पक्ष में यह चार विभाग चार वर्ण नाम से प्रसिद्ध हैं, इस अध्याय में हम आश्रमके विषय की ही आलोचना करेंगे। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य वा छात्रजीवन गार्हस्थ्य वा गृहिजीवन, वानप्रस्थ वा निर्जनवास का समय और संन्यास वा सर्वत्यागकी अवस्था। इन में से किसी आश्रममें भी मनुष्य को दूसरे आश्रम का कर्त्तव्य कार्य नहीं करना चाहिये, छात्रजीवन में गृहस्थ नहीं होना चाहिये और न वानप्रस्थ वा संन्यास का ही अवलम्बन करना चाहिये, वानप्रस्थ को गृहस्थ होनेकी इच्छा नहीं करना चाहिये और संन्यस्त को वानप्रस्थावलम्बी की समान निर्जनवास नहीं करना चाहिये। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्यके पालनमें ही आनन्द है, उसका यथोचित अनुष्ठान करने

से जीवात्मा का क्रम विकाश सुन्दर रीतिसे सधता है। आश्रमधर्म के पालनमें लापरवाही करने से विकाश में विलम्ब होता है।

वर्त्तमान समय में प्राचीनकाल के नियमानुसार आश्रमधर्म का पालन होना बहुत ही कठिन है। समय बहुत ही पलटा खागया है, परन्तु यदि हम इन चारों आश्रमों के कर्त्तव्य के मुख्य अर्थ पर ध्यान दें तो आजकल भी सुन्दर शृङ्खलाके साथ कार्य चलसकता है।

उपनयन के समयसे द्विजत्व को पाकर छात्रजीवनका आरम्भ होता है, उस छात्रजीवन में बालकों को कुछ एक गुणों को अपने अधीन करलेना चाहिये और कष्टसहिष्णु बनना चाहिये।

वस्त्र आदि सरल और साधारण होने चाहियें। इस से शरीर बलिष्ठ और स्वस्थ होगा। गुणों को पाने के लिये ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर स्नान का अभ्यास करना चाहिये, परिमित भोजन करना चाहिये, अधिक परिश्रम करना चाहिये, भोगविलास और आलस्य को दूर करना चाहिये। जो बालक इन नियमोंका कुछ दिनों पालन करता है उसके साथ, जो बालक सूर्योदय तक सोता है, अधिक भोजन में प्रीति रखता है, मिष्टान्न और भारी पदार्थों को खाता है, शारीरिक परिश्रम करनेसे बचता है, बहुत समयतक कोमल शय्या पर ही लेटा रहता है उसकी समता करके देखनेपर पहिला कर्मठ, बली, साहसी और स्वास्थ्ययुक्त बली पुरुष होगा और दूसरा स्थूलशरीर आलसी वा अत्यन्त दुर्बल और सदा रोगी होगा।

छात्रको, परिश्रम सहलेने का अभ्यास, गुरुजनों की आज्ञानुसार वर्त्ताव करना, नम्रता और कार्य करने में तत्परता होना चाहिये। यह समय ही जीवन संग्रामके लिये प्रस्तुत होने का है, जिससे कि—बडा होकर कामका मनुष्य होसके, इस लिये परिश्रम करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। गुरुजनोंके बहुत दिनोंके अनुभव

से उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा परिचालित होकर अपनी उन्नति करने का नाम ही उनका आज्ञाकारी होना है। ऐसे करनेसे पहिली अवस्था में अनेकों कष्टों से रक्षा होती है। जो पुरुष बड़ों की आज्ञा का पालन करना जानता है, वह ही शासन करने के योग्य होता है। नम्रता के गुण से उसकी शीघ्र ही उन्नति होती है, क्योंकि-सब ही नम्र पुरुष की हर प्रकारसे सहायता करनेको तयार होते हैं और विद्यालय में तथा परिवार में कर्मतत्परता का अभ्यास कर लेने पर अंतको मनुष्यसमाज के लिये जीवन दान करना सीखना होता है।

छात्रजीवन की चिन्ता और कार्य में पवित्रता होनी चाहिये, शरीर मन दोनों से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इस समय से ही अपनी चिंताको दमन करना सीखना चाहिये, क्योंकि-जो अपवित्र होकर चिंता नहीं करता है उसको अपवित्र कार्य नहीं करना पड़ता है। उसको स्त्री पुरुष के भेद की चिंता नहीं करना चाहिये और वृथा चिन्ता को भी मनमें स्थान नहीं देना चाहिये। जो मन से और शरीर से पवित्राचारी होता है वह ही गार्हस्थ्य जीवन को सुख से वितासकेता है, छात्र ब्रह्मचारी रहे ब्रह्मचर्य ही उसका कर्त्तव्य है। प्राचीनविधि को लांघकर छात्र-अवस्थामें विवाह होजाने से असमय पर बुढ़ापा, दुर्बलता, पीड़ा और जातीय अधःपतन होता है।

विवाह के अनन्तर ही गार्हस्थ्य जीवन का आरम्भ होता है युवा अपनी शिक्षाको समाप्त करकै गृहस्थके भारको स्वीकार करनेके योग्य होता है उसी समय विवाहित होकर इस आश्रम को ग्रहण करना चाहिये। सब आश्रमों में यह आश्रम अधिक प्रयोजनीय है, क्योंकि-गृहस्थ और आश्रमों का भरण पोषण करता है। मनुसंहिता में लिखा है-

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्त इतराश्रमाः॥

(मनु ६ अ० ७७)

अर्थात्-जैसे वायु का आश्रय करके सकल जीवजन्तु जीवित रहते हैं, तैसे ही गृहस्थ आश्रमके आश्रय से और आश्रमवाले जीवन धारण करते हैं।

समाज और परिवार की उन्नति तुल्यरूप से योग्य गृहस्थ के ऊपर निर्भर है। उनका सुख और सम्पत्ति गृहस्थ के ही अधीन है। श्रेष्ठ पति, श्रेष्ठ पिता, श्रेष्ठ स्वामी और श्रेष्ठ स्वभाववाले, देश वासी मनुष्यों के शिरोमणि हैं निःस्वार्थता, सहानुभूति कोमलता मिताचार, पवित्रता, दूसरों की सहायता करना, विज्ञता परिश्रम, न्यायपरायणता और दयालुताको सीखनेके लिये गृहस्थाश्रम योग्य पाठशाला है, गृही जिन गुणोंके होनेसे उत्तम गृहस्थ कहाता है। संन्यासी के सकल गुण होने से वह सच्चा साधु कहा सकता है, उत्तम गृहस्थ जैसा अपने परिवारमें और समाजमें व्यवहार दिखाता है, वैसा ही व्यवहार जो सब के साथ दिखाता है उसको ही साधु वा संन्यासी कहते हैं। गार्हस्थ्य जीवनका ठीक२ व्यवहार न होने से हमारा सामाजिक जीवन क्रमसे हीन होता चलाजाता है। इस बाल्यविवाह के युगमें लोगों के छात्रजीवन और सांसारिक जीवन दोनों ही को हानि पहुंच रही है। इस से ही हमारे गार्हस्थ्य जीवनमें पहिले युगोंकी समान गम्भीरता और महत्वका पता नहीं है। छात्रजीवन में विवाह होजाने से दोनों ही अवस्था बिगड़कर 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' अर्थात् 'दोनों दीन से गए पांड हलुआ हुआ न मांडे, वाली कहावत होजाती है। कच्चे फलको तोडकर खाने से पक्के फलका स्वाद नहीं मिलसकता। एकसमय कितने ही श्रेष्ठवंशोत्पन्न चञ्चलबुद्धि युवा ब्राह्मणकुमार योग्य समय से पहिले ही घरको छोड़ संन्यासी होकर वन में चलेगए थे, इन्द्र उनके ऊपर दयालु होकर सुवर्णमय पक्षीका देह धारण

करके आये और उपदेश किया कि–तुम घर जाकर गृहस्थ धर्म का पालन करो। गृहस्थाश्रम धर्मशिक्षा पाने के लिये योग्य क्षेत्र है। यह आश्रम अति पवित्र है। देवपूजा अध्ययन, संसारी होकर पुत्र उत्पन्न करतेहुए पितृऋण को चुकाना आदि कार्यों की समान कठोर तपस्या और कौनसी है ? गार्हस्थ्यधर्म के गुरुभार को ग्रहण करो। जो अपने कर्त्तव्यको छोड़बैठते हैं वह पापी हैं। जो भूँखे की क्षुधा को दूर करके बचेहुए भोजन से किसीप्रकार अपनी क्षुधा को निवृत्त करता है वह मानो यज्ञ से बचेहुए अमृत का भोजन करता है, यह कथा महाभारतके शान्तिपर्वमें विस्तार के साथ वर्णन की है।

जब गृहस्थ, छात्रों को समस्त कर्त्तव्यका भार उठानेके योग्य देखें, जब अपने शरीर पर वृद्धावस्था के चिन्हों को प्रकट होता देखें, जब सन्तान के सन्तान होजाय तब वह स्त्रीके साथ गृहस्थ को त्यागकर निर्जनवासके योग्य होंगे। आजकल कुछएक निर्जन स्थान में आत्मचिन्तवन और शास्त्रालाप करते हुए छोटी२ अवस्थावालोंको उपदेशके द्वारा योग्य बनादेने से भी तीसरे आश्रम का कार्य सम्पन्न होसकता है।

अन्त को वृद्ध अवस्था में मनुष्य यथार्थ चौथे आश्रममें प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं। उससमय उनको ध्यान, धारणा और पूजा आदिके सिवाय और कोई कार्य नहीं रहता है। तदनन्तर धीरे २ मृत्युमार्ग से गन्तव्य स्थान पर पहुंचकर सुन्दरता के साथ बितायेहुए जीवनका फल भोग फिरइसलोकमें आकर उन्नति पाते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८१ ॥
[मनु ० अ० ६]

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति, यह सब आश्रम पृथक् पृथक् गृहस्थ से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदम्वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥
(मनु ३ अ०)

तीन, दो वा एक वेद को क्रम से पढ़कर यत्नके साथ समाप्त करै, इस बीच में ब्रह्मचर्य खण्डित न होने पावे, तदनन्तर उस आश्रम को छोड़कर गृहस्थ में प्रवेश करै ॥ २ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्य तथापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
बनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ ३२ ॥
(मनु०

जब गृहस्थ अपने शरीर में झुर्रियें पड़ती देखै और पुत्र के पुत्र को देखलेय तब अपने घरको छोड़कर बनमें जाकर रहै ॥ २ ॥ इसप्रकार बनमें प्रसन्नचित्त से आयु के तीसरे भागको बिताकर चौथे भागमें सकल संगों को त्यागकर संन्यास ग्रहण करै ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥
(मनु० ६ अ०)

जो द्विज विना वेद पढे और संतान विना उत्पन्न करे तथा यज्ञों के द्वारा देवता तथा पितरों को विना प्रसन्न करें मोक्ष की इच्छा करता है वह उन्नति न पाकर उलटा नीचेको गिरता है ॥३७॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
(मनु० २ अ०)

अधिक भोजन करने से शरीर रुग्ण रहता है, आयु कम होती है, लोकमें निंदा होती है और स्वर्ग तथा धर्मका विरोधी है, अतः अतिभोजन न करै ॥ ५७ ॥

नोदितो गुरुणा नित्यमप्रणोदित एव वा।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १६१ ॥
वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धमाल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥
कामं क्रोधश्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परिवादं तथानृतम् ॥ १७९ ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कदयन रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥
(मनु० २ अ०)

गुरु की आज्ञासे या विना आज्ञा के ही अध्ययन और गुरु के हितका यत्न करता रहै ॥ १६१ ॥ मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री, कांजी, और सकल प्राणियोंकी हिंसा को त्यागदेय ॥ १७७ ॥ काम क्रोध, लोभ, नाचना, वजाना, गाना ॥ १७८॥ जुआ खेलना और दूसरों की वृथा निंदा करना त्यागदेय १७९ अकेला शान्तचित्त होकर सोवै, वीर्य पात के कार्य को यत्न के साथ त्यागै, जो कामवश वीर्यपात करता है वह अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश करता है ॥ १८० ॥

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्त इतराश्रमाः ॥ ७७ ॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेयः स त्रीनेतान विभर्त्ति हि ॥ ८८ ॥
यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ८० ॥
(मनु० ३ अ०)

जैसे वायुके आश्रय से सब जीवजन्तु जीवित रहते हैं, तैसे ही गृहस्थ के आश्रय से और आश्रम जीवित रहते हैं ॥ ७८ ॥ वेद की श्रुतिके अनुसार इन सबोंमें गृहस्थ श्रेष्ठ कहाता है, क्योंकि- वह तीनों का पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे सब नद नदी समुद्र

का आश्रय लेते हैं तैसे ही सकल आश्रमी गृहस्थ का आश्रय लेते हैं ॥ ९० ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
(गीता ६ अ०)

कर्मफलकी आशा को त्याग जो पुरुष अवश्यकर्त्तव्य मान कर श्रद्धा के साथ विहित कर्मको करता है निःसन्देह वही संन्यासी और वही योगी है, केवल अग्निहोत्र और कर्त्तव्य कर्मोंका त्यागमात्र करने से संन्यासी नहीं कहाता है ॥ १ ॥

—०—

सप्तम अध्याय

चार वर्ण

जीवात्मा जन्म मरण के चक्र में असंख्यों वार आवाजाई करता हुआ क्रमसे चार अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं। पुरातन समय में इसको ही वर्णविभाग कहागया है, यह ही मानवधर्म-शास्त्र के वर्णविभाग का हेतु है।

वर्णविभाग।—सब जीवात्माओं को ही क्रमसे यह चार वर्ण धारण करने होते हैं। सनातनधर्म की विशेषता ही यह है कि-चारों वर्णोंका विभाग ही सनातनधर्मावलम्वी समाज का मेरुदण्ड स्वरूप है। प्राचीन समयमें सब जातियें इन सब अवस्थाओं के अनुरूप होती थीं जीवात्मा प्रत्येक अवस्था के अनुरूप वर्ण में जन्म धारण करते थे। इसीलिये सकल सनातधर्म समाज संतुष्ट और क्रमसे उन्नतियुक्त था। कुरुक्षेत्र में अर्जुन को जो भय उत्पन्न हुआ था, आगे के समय में वह पूर्ण होगया है। आजकल आर्यावर्त्त में और सकल भारत में वर्णसंकरता का

दोष लगगया है। अजकल जीवात्मा उपयोगी वर्णमें जन्म न लेकर केवल उपयोगी देहमें ही जन्म रहे हैं, इसीकारण आजकल हिंदूसमाज में गड़वडी मचीहुई है। किसप्रकार फिर ठीक व्यवस्था प्रचलित होसकती है, इस बात का विचार करना योग्य पुरुषों का कार्य है, इस बात का विचार बालक नही करसकते। इस समय वर्ण के यथार्थ अर्थ का विचार करना चाहिये।

हम कहचुके हैं कि–वर्ण चार हैं–पहिले में जीवात्माकी शैशव बालकपन और युवावस्था वीतती है। वह उससमय युवा पुरुष के योग्य धर्म, आज्ञाकारी होना, कार्यतत्परता और धैर्य को सीखता है। उससमय उसका दायित्व (जिम्मेवारी) बहुत थोडा होताहै, उससमय उस का कर्त्तव्य केवल सेवाही होती है। यदि वर्णसङ्करता नहीं होती है तो ऐसी अवस्थामें जीवात्मा समाजके नीचे वर्णमें जन्मग्रहण करते हैं और श्रमजीवी, कारीगर तथा नौकर आदि होकर अपने जन्मको विताते हैं। सनातनधर्म के सामाजिक नियमानुसार वह शूद्र हैं। इस वर्णसङ्करताके समय में ऐसे जीवात्मा भारतवर्षके शूद्र वर्णमें वा अन्यत्र उपयुक्त जातिमें जन्म लेनेपर सुख संतोषके साथ अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, परन्तु उच्च वंशमें जन्म लेनेपर और उनके कंधे पर ऊँचा भार पडने पर सर्वसाधारण के लिये वड़ाही अनिष्टकारक हो उठता है तैसे ही विकाशप्राप्त जीवात्मा का नीच जातिमें जन्म होनेपर भी वडी विपत्ति पडती है। तव जिस जीवात्मा की यथार्थ उन्नति होती है वह चाहे जिस जाति में जन्मलेय उसमें ही प्रसन्न रहता है। परन्तु आधे विकाश को प्राप्त जीवात्मा स्वभाव से ही अनुपयोगी देशकालके साथ विरोध करके ईश्वरेच्छासे विकाश पाकर उपयोगी परिवर्त्तन साधलेता है।

दूसरी अवस्था जीवात्माकी पूर्णताका पहिला अर्द्धभाग है इस

समय धनोपार्जन और उसको भोगनेके श्रेष्ठ व्यवहार के योग्य होता है। इस समय उसके यत्नसे परिश्रमके कार्य की व्यवस्था होती है। दायित्व के परिचालन की शक्ति उत्पन्न होतीहै और सञ्चित धनका सद्व्यय करनेकी सामार्थ्य होती है। यह ही व्यवसायी अथवा व्यवसाय के अनुरूप कार्यके नेता होते हैं। सनातन धर्म में इसप्रकार जीवात्मा के वैश्यवर्ण में जन्म लेने की कथा है। यह धनसञ्चय और सर्वसाधारणकी उन्नति के कार्य में जीवन को विताते हैं।

तीसरी अवस्था जीवात्मा की पूर्णता का दूसरा भाग है, इस समय उन का दायित्व और शक्ति वढकर जातिका आश्रय करती है, इस समय वह व्यवस्थापक, शासनकर्त्ता और राज्यके लिये निःस्वार्थभावसे कार्य करने वाले होतेहैं। इस समय उनकी शक्ति सञ्चय के लिये नहीं होतीहै, केवल लोकरक्षा और पालनके लिए होती है यह राजा, विचारक, व्यवस्थापक और योद्धा होते हैं। सनातनधर्मके सामाजिक नियम में ऐसे जीवात्मा को क्षत्रिय कहा है। इस शरीरमें जीवात्माको राजा और योद्धा वननापड़ता है।

चौथी अवस्था, जीवात्मा की प्रशान्त अवस्था है। इस समय पार्थिव वस्तुओं में उसको मोहित नहीं कियाजासकता। इस समय वह नवीन जीवात्माओं के उपदेशक बन्धु और सहायक होते हैं। यह सब जातियों के पुरोहित, उपदेशक और सब प्रकार के शिक्षक, ग्रन्थकार, वैज्ञानिक, कवि और तत्त्वज्ञानीरूप से प्रकट होते हैं। सनातनधर्मकी विधि के अनुसार यह सब जीवात्मा ब्राह्मणकुलमें जन्म ग्रहण करके अत्यन्त उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगए हैं। इनको अभाव बहुत कम और दायित्व बहुत अधिक है, यह अति उन्नत और निःस्वार्थ भाव से पूर्ण हैं वर्णसङ्करता के कारणइस वर्ण का अत्यन्त ही अधःपतन हुआ है। क्योंकि–

जो श्रेष्ठ होता है उसमें विकार बहुत ही बुरा होता है। ब्राह्मण-शरीर में शूद्र जीवात्मा का होना सनातनधर्मके मन्तव्यानुसार बहुत ही अनिष्टकारक होता है।

एक वर्ण के लोक अन्य वर्णके कार्यको अधिकारमें लें तो बड़ा अनिष्ट होने लगता है। अपने२ वर्णका अधिकार, जो कुछ करनेका भार डालता है, सब लोग उसको भूलकर केवल अधिकार के विषयको लेकर बड़बड़ करते रहते हैं, इस से और भी अधिक विपत्ति आती चलीजाती है। ब्राह्मण क्षत्रिय अपने २ अधिकार को पाने के लिये बड़े ही व्यग्र हैं, परन्तु वह अपने दायित्व की बात एकवार भी विचारना नहीं चाहते। इसकारण ही स्वाभाविक ही परस्पर विरोध बढ़ताजाता है। आजकल परस्पर की शत्रुता के कारण पहिले की समान सापेक्षता और सद्भाव नहीं है। इसीकारण वर्णधर्म आजकल विपत्तिका कारण होउठा है। वह अब पहिले की समान समाज के मेरुदंडस्वरूप में रक्षा का कार्य नहीं करता है।

प्रत्येक बालक समाज की सुखमय अवस्था स्थापन करनेके लिये इतना करसकते हैं कि-उनमें जिसका जो वर्णधर्म हो उसके गुणों का सञ्चय करनेमें यत्न करैं और ऊँचा अधिकार पानेकी गडबडीमें पडकर गर्व और झूठे सन्मान की लालसा में दिक्क न हों। शूद्र परिश्रम, विश्वासपात्रता और कर्मतत्परता का अभ्यास करें। वैश्य व्यवसायी दाता और सत् असत् का विचार करनेवाले हों। क्षत्रिय साहसी, सदाचारी और बलवान् होनेका यत्न करें। ब्राह्मण सहिष्णुता, पवित्रता, विद्या सत्य वक्तापन और आत्मत्याग का अभ्यास करैं। प्रतीत होता है यदि इसप्रकार सब अपने अपने धर्म का पालन करने में यत्न करने लगें तो धीरे २ वर्णसंकरता का लोप होसकता है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋक् १०।९०।१२

उसके मुखसे ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

सर्वस्यास्यतु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥
प्रजानां रक्षणं दानं इज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ ८९॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥९१॥ (मनु०१अ०)

इस सकल सृष्टि की रक्षा के लिये तिस परमप्रकाश स्वरूप प्रभु ने मुख, बाहू, ऊरू और चरणों से उत्पन्न हुए चारों वर्णों के पृथक् २ कर्म रचे हैं ॥ ८७ ॥ पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान करना और प्रतिग्रह यह छः कम ब्राह्मणोंके कल्पना किये॥८८॥प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन और भोगों में आसक्ति का त्याग करना, यह क्षत्रियों के कर्म हैं॥८९॥ पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, व्याज पर रुपया देना और खेती का काम यह वैश्य के कर्म हैं ॥ ९० ॥ और चित्त में डाह वा खेद न करके ऊपरोक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रों का प्रधान कर्म बताया है ॥ ९१ ॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तथैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥
(भागवत् ७ । ११)

जिस वर्ण का अभिव्यञ्जक जो लक्षण शास्त्र में कहा है यदि वह अन्य वर्ण में देखने में आवे तो उसको भी तैसा ही आदर करें ॥३५॥ (यदि किसी क्षत्रिय आदि में ब्राह्मणवर्ण के अभिव्यंजक लक्षण हों तो उसका ब्राह्मण के समान आदर करै, परन्तु उसका दान लेना आदि कार्य नहीं होगा, क्योंकि-ब्राह्मण जाति में उत्पन्न न होनेवालों के लिये ऐसा व्यवहार शास्त्र में या लोक में देखने में नहीं आता)।

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ १०८ ॥

(महाभारत वनपर्व ३। १३ अ०

केवल योन, या केवल संस्कार, या केवल वेदाध्ययन, या केवल ब्राह्मण के यहां जन्म होना द्विजत्व में हेतु नहीं है, किन्तु द्विजत्व का आचरण ही अर्थात् ब्राह्मणादि वर्ण में जन्म लेकर शास्त्रानुसार संस्कार हाकर अपने २ कर्त्तव्य का आचरण ही द्विजत्व का हेतु है ॥ १०८॥

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥२१॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तद्धि न विद्यते।
नैव शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २२ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्र नैतद्भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २३ ॥

सत्य, दान, क्षमा, शील, अनृशंसता, घृणा, जहां देखने में आवें शास्त्रानुसार उस में ब्राह्मण के लक्षण हैं अर्थात् वह कर्म ब्राह्मण है ॥ २१ ॥ वही लक्षण शूद्र में हों और ब्राह्मण में न हों तो वह शूद्र कर्मशूद्र नहां और ब्राह्मण कर्मब्राह्मण नहीं २२ जिसमें यह लक्षण देखनेमें आवें हे सर्प! वही वास्तविक ब्राह्मण है और जिसमें यह न दीखें उसको शूद्रसमान जानना चाहिये २३

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा,
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति,
नीडं शकुन्ता इव पक्षजाताः ॥ ३ ॥
आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य,
वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतमुत्पादयितुं समर्था,
अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥ ४ ॥

(वशिष्ठसंहिता ६ अ०)

आचारहीन पुरुष को, छः अङ्गों सहित पढेहुए वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, जैसे पर निकलने पर पक्षी घोंसले को छोडजाते हैं, तैसे ही मृत्युके समय उसको वेद त्यागदेते हैं ॥ ३ ॥ जैसे अन्धे की स्त्रियें रूपवती होने पर भी उसको कुछ नयनानन्द नहीं देसकतीं, तैसे ही यज्ञसहित षडङ्गमय वेद आचारहीन ब्राह्मणको हितकारी नहीं ॥ ४ ॥



तृतीय खण्ड

प्रथम अध्याय

नीतिविज्ञान क्या है ?

विज्ञान कहने से विशेषरूपसे सुशृंखलाबद्ध ज्ञानका बोध होता है। विज्ञानके सकैल सत्य परस्पर सापेक्ष हैं। कितने एक तत्त्वोंके समूहको ही विज्ञानशब्दसे नहीं कहसकते,किन्तु वह तत्त्वसुशृंखला के साथ परस्परसम्बन्धरूपसे सज्जित होने चाहिये और उन सबके सम्बन्धके कारण भी सुन्दररूपसे प्रमाणित होने चाहिये,तबही उन को विज्ञानपद से कहाजासकता है। मनुष्यों के परस्पर के तथा दूसरे जीवोंके साथके व्यवहारका नाम नीति है इसकारण नीति विज्ञान कहनेसे कितने ही पाप पुण्योंकी सूचीका बोध नहीं होता है, किन्तु परस्परके प्रति यथोचित व्यवहारकी सुन्दर सम्बन्धके साथ नियमावली और उसके मूल तत्वका निर्णय करामे वाले शास्त्र का नाम नीतिविज्ञान है।

नीतिशास्त्रका दूसरा नाम धर्मनीति है। सत् और असत्का ज्ञान होनेके लिये,मनुष्यके विषयमें और उसके चारों ओर स्थित विषयों के सम्बन्ध में, जानकारी होना चाहिये। सब जीवोंका मङ्गलसाधन धर्मनीति का उद्देश्य है। मनुष्यों को इस व्यवहार विषयक विज्ञानकी सहायता से किस प्रकार परस्परमें और चारों ओर के जीवोंके साथ सुन्दर नियमानुसार जीवनयात्राका निर्वाह करना चाहिये यह बात बताई गई है। ईश्वर प्रेममय हैं, सब विश्व सुख पावे यही उसकी इच्छा है। उस इच्छा के बल से ही विश्व क्रम से सुख के राज्यमें आकर पहुंचेगा। इस से ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं है कि-सत् विषय मात्र सबका प्रीतिकारक है और असत् मात्र सब को अप्रिय ही होगा, किन्तु इसका अर्थ

यह है कि-जैसे आचारसे चिरकालके लिये सुख मिलता है और ईश्वरके साथ मिलने का आनन्द प्राप्त होता है तथा अन्तमें मुक्ति होती है वह आचार ही सत् है। जैसे गाड़ी के दोनों पहिये उस गाडी में जुतेहुए दोनों बैलों के पीछे २ चलते हैं तैसे ही दुःखको पाप के पीछे २ चलनेवाला और सुख को पवित्रता के पीछे चलनेवाला जानो। खोटे कर्म का फल प्रारम्भ में मधुर होनेपर भी परिणाममें परम कष्टदायक होता है और कभी२ तो चिरकाल के लिये कष्टका कारणहोजाता है। जैसे कोई अनजान बालक, विषलता का सुन्दर फल, भूलकर उसके देखने में अच्छे प्रतीत होनेवाले सुगन्ध आदि से मोहित हो, खाता है और उसके घड़ीभर बाद ही उसके कारण पीड़ा से छटपटाने लगता है। तैसे ही जो बालक आरम्भ में थोडा सा सुख पानेकी आशासे कुकर्म करता है उसको निःसंदेह परिणाम में असह्य कष्ट सहना है धर्मनीति के शिक्षकों को चाहिये कि-प्रत्येक पाप को विषशब्द से पुकारा करें।

आचारलक्षणो धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः।
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते॥
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते।
आचाराल्लभते ह्यायुराचाल्लभते श्रियम्॥
आचारात्कीर्त्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च।

[महाभारत अनुशासनपर्व १० अ]

सदाचार ही धर्मका लक्षण है, सदाचारवान् होना ही साधुओं का लक्षणहै, सब शास्त्रोंमें आचार को ही श्रेष्ठ कहा है। आचार से धर्म उत्पन्न होता है, धर्म से आयु बढ़ती है इसीलिए आचार से आयु बढ़ती है, और आचार से ही पुरुष लक्ष्मी पाता है। जो पुरुष सदाचारी होता है उसकी इसलोक में और मरण के अनन्तर परलोक में भी कीर्ति होती है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः १०८
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥
(मनु १ अ०)

श्रुति और स्मृति में कहा है कि-आचार धर्मका परम लक्षण है, इस कारण सदा आचार से रहनेवाला द्विज आत्मज्ञानी होता है॥१०८॥मुनियों ने आचार के द्वारा धर्म का गति को देखकर, सकल तपों के मूल आचार को ही ग्रहण किया ॥ ११० ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
(महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म अ० १०९)

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषाञ्च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥
(महाभारत. शान्तिपर्व मोक्षधर्म ८८ अ०)

सकल प्राणियों के प्रभाव के लिये धर्म का प्रचार है, जिसमें प्रभाव देखो उस ही को धर्म जानो। धारण करने से धर्म कहाता है धर्मसे ही प्रजा ठहरी हुई है, जिसमें धारणशक्ति हो उसको धर्म जानो। प्राणियों की अहिंसा के लिये धर्मका प्रचार है, जो अहिंसायुक्त है वही धर्म कहाता है जो सदा सबका मित्र है और शरीर, वाणी, मनसे सब के हित में तत्पर है, हे जाजले ! वही धर्मको जानता है ॥

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥ ३४ ॥
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्गोऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥ ३५ ॥
(श्रीमद्भागवत् ४ । २२)

यदि तुम इस घोर अन्धकारमय संसार को तरना चाहते हो तो किसी के साथ सङ्ग न करो, क्योंकि—सङ्गही धर्म, अर्थ काम और मोक्षका अत्यन्त नाश करनेवाला है॥३४॥ चारों पुरुषार्थों में भी केवल मोक्ष को ही सार जानो अन्य तीनों में तो सदा यमराज का भय लगा रहता है ।

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद्वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥ ४१ ॥
मोक्षो वा परमं श्रेय एषां राजन् सुखार्थिनाम् ॥
[महाभारत वनपर्व ३० अ]

हे ज्ञानी वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ सुजन ! यथा समय पर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करो ॥ ४१ ॥ परन्तु हे राजन् ! जिस को सुखकी इच्छा हो, उसके लिये मोक्ष हा परम श्रेय है ॥४२॥

—०—

द्वितीय अध्याय

धर्म ही नीतिशास्त्र की भित्ति है

धर्मशास्त्र का पहिला उपदेश है कि-'आत्मा एक है'। इस बात की आलोचना पहिले ही का गई है। यद्यपि देखनेमें ऐसा आता है कि-आत्मा असंख्य है, तथापि यह सब उस एक के अंश वा प्रतिबिंब हैं। इन सबकी स्वतन्त्रता क्षणिक है और एकता चिर-स्थायी है। एक सरोवर में से असंख्यों पात्र भरलिये जाते हैं, परन्तु उन सब पात्रोंमें जल एक ही है। अनन्तसत्वा समुद्रमें गोता

देकर जीवात्मा के जीवन की सृष्टि की गई है, परन्तु सब का प्राण एक ही पदार्थ है। धर्मशास्त्रका यह मूलतत्त्व ही नीतिशास्त्र की भित्ति है (१)

इसी लिये नीतिशास्त्र की मूल में आत्मा की एकता प्रतिष्ठित है। परन्तु केवल इतना होनेसे ही कार्यसिद्धि नहीं होसकती। एक मेवा द्वितीयम्, मैं और तू नहीं रहसकता। परन्तु हमारा विज्ञान तो मैं और तू के सम्बन्धका निर्णय करनेमें ही व्यस्त है, हम जो अनात्म पदार्थोंमें अनेकता देखरहे हैं, इसका कारण यह है कि-अनेकों भौतिक उपाधियें हैं, परन्तु इन सब ही उपाधियों में उस ही एकमात्र आत्मा का प्रतिविम्ब वा अंश विद्यमान है, जगत् में असंख्यों देह और मन हैं, वह देह और मन परस्पर एक दूसरेके

(१) और एक दृष्टांत से यह एक बात स्पष्ट हो सकती है। जगत्के सब ही पदार्थों में इलैक्ट्रिसिटी अर्थात् बिजली है। कलकत्ते में धर्मतले से श्यामवाजार तक जो तार चलागया है उसके सब ही स्थान में बिजली का प्रवाह विद्यमान है, परन्तु उस बिजली की शक्ति का विकाश तारके सब स्थानों में वा जगत् में सर्वत्र नहीं है, बिजली का विशेषरूप से विकाश होने के लिये उपयोगी उपाधि का प्रबन्ध करना चाहिये। जहां जहां उसका उपयोगी प्रबंध कियागया है, तहां २ ही बिजलीका दीपक जलता है या उसके द्वारा पंखा होता है अथवा ट्राम्वे या समाचार पहुंचते हैं। परंतु बिजलीकी दो लालटैनोंके वीचका स्थान बिना लालटैन का होने से क्या यह कहाजासकता है कि-उस स्थान में बिजली नहीं है? या जगत् में सर्वत्र सकल परमाणुओं में बिजली नहीं है अथवा बिजली सर्वव्यापक नहीं है?, अव्यक्त अवस्था में इन्द्रियगोचर न होनेपर भी बिजली सर्वत्र व्यापक है, तैसे ही अव्यक्तरूप से परमात्मा भी सर्वव्यापी है उपयुक्त उपाधि की सहायताके द्वारा जीवात्मा रूपसे विकसित होता है।

साथ अन्वित हैं। सकल देह और मन अन्यान्य देह और मनोंके साथ इन्द्रिय ज्ञानमें पृथक् होने पर भी चैतन्यके द्वारा अनुप्राणित हैं, जब तक यह बात बुद्धिस्थ नहीं होगी, तबतक उनके यथार्थ संबंध का ज्ञान नहीं होसकता। दूसरों की जो बुराई भलाई कीजाती है उसको समझना चाहिये कि-दूसरेकी बुराई करने पर हम अपनी ही बुराई करते हैं। यदि हाथ अपने शरीरमें के पैर को काट डालेगा तो यद्यपि हाथ में से रुधिर नहीं निकलेगा, परन्तु कुछ देरके बाद हाथ को उस रुधिरके निकलनेसे उत्पन्न हुई दुर्बलता का अनुभव करना पड़ेगा। क्योंकि सकल शरीर में बहनेवाला रक्त एक ही है और सकल रुधिरकी उत्पत्तिका स्थान भी एक ही है। तैसे ही एक मनुष्य यदि दूसरे का अनिष्ट करता है तो अनिष्ट करनेवाले को भी दुःख पानेवाले पुरुष की समान कष्ट सहना पड़ता है। भेद केवल इतना ही है कि-अनिष्ट करनेवाले को कुछ देर से कष्टका अनुभव होता है॥

यह ही युक्तिके द्वारा श्रेष्ठव्यवहारकी मूलभित्ति निर्णीत हुई है बालकों को चाहिये कि-पहिले तो ऋषियों के वाक्यों को समझकर नीति के नियमों को स्वीकार करलें, क्यों कि-उस समय उनको स्वयं भले बुरे का विचार करने की शक्ति नहीं होती है, परन्तु उमर बढ़ने के साथ २ वह सनातनधर्मकी सकल आज्ञाओं के प्रयोजन को युक्तियों के द्वारा निर्णय करके समझसकेंगे।

एकही आत्मा सकल जीवोंमें विद्यमान है। प्रत्येक जीवात्मा उस परमात्मा का अंश वा प्रतिविम्ब है। इस सत्य को हृदय में जड़ रखने के लिये, श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह श्लोक कण्ठ कर रखना चाहिये-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेता० ६। २।)

एक ईश्वर सकल भूतों में गूढभाव से वर्त्तमान है (जैसे एक बूँद जलमें जल का सकल उपादान गुप्तरूपसे रहता है, तैसे ही ईश्वर प्रत्येक परमाणु में पूर्णभाव से विद्यमान है)। वह सर्वव्यापी और सकल प्राणियों का अन्तरात्मा है। वह कर्मका अध्यक्ष और सकल भूतोंका आश्रयस्थान है। वह साक्षी, चेतनस्वरूप और अद्वितीय निर्गुण है। यह बात सबको स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे का अनिष्ट करने पर अपना अनिष्ट होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि —

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

(गीता १० अ०)

हे अर्जुन ! मैं प्राणियों का अन्तःस्थित आत्मा हूं तथा सकल प्राणियों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय मैं ही हूं ॥

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ १० ॥

(कठ ४ वल्ली)

वह एक ही सकल प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह बहुत होकर रहता है और अनेकों रूपों को धारण करता है ॥ १० ॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

ईशोपनिषद

जो पुरुष अपने में सकल प्राणियों को देखता है और सकल प्राणियों में अपना दर्शन करता है, उसके हृदय में ब्रह्मज्ञान का उदय होता है और वह फिर किसी से भी घृणा नहीं करता है ६ जब सकल प्राणियों में आत्मज्ञान होजाता है तब ज्ञानी को काहे का शोक और काहे का मोह ॥ ७ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

(गीता ६ अ०)

जिसका चित्त योग से सावधान होजाता है वह सब को समान समझता है, वह योगी ही सकल प्राणियों को अपने में देखता है और अपने को सकल प्राणियों में अभिन्न देखता है।

—०—

तृतीय अध्याय

सत् और असत्

सत् और असत् इन दो शब्दों को सब ही बोलते हैं, परन्तु इन दोनों शब्दों का प्रतिपाद्य क्या है, इस बात को सब नहीं जानते। इस समय हम इन दोनों शब्दों के विषय की ही आलोचना करेंगे त्रिलोकी के साथ जो हम विशेष सम्बन्ध के बन्धनमें बँधे हुए हैं, इसका हम पीछे वर्णन करचुके हैं। इस त्रिलोकीको ब्रह्माने रचा है, विष्णु ने रक्षा की है और शिव इसका प्रलय करते हैं। हम किसी नई त्रिलोकी की बात कहेंगे, जिसको कि–प्रमाण कहाजा सकता है। एक से बहुतसी मूर्त्तियोंका प्रकट होना, वृद्धि और उन्नति धीरे २ उनमें विभिन्नता आना, फिर क्रम २ से उन सब विभिन्न मूर्त्तियोंमें स्वतंत्र व्यक्तिपने का समावेश, संसार की बहुत कुछ देखभाल से प्रत्येक व्यक्तिके विषयकी ज्ञानप्राप्ति, बाहरी जगत्में से प्रयोजन की सामग्री का संग्रह करतेहुए उनके देह का उन्नति का साधन, इसका नामही प्रवृत्तिमार्ग है। इस मार्ग का अवलम्बन करके जीवात्मा अपने को स्वतंत्र व्यक्ति मानरहे हैं। बाहरी जगत्को यथासंभव ग्रहण करते हुए अपनी बुद्धि और अहंज्ञानकी पुष्टि करते हैं। यह कार्य पूरा होने पर जीवात्मा को शिक्षा देनी होगी कि–वह एक महान् 'अहम्' है, अर्थात् जिसको

हम ईश्वर कहते हैं, उसका अंश वा प्रतिबिंबमात्र है। उसकी सब शक्तियोंका यदि उस महान् 'अहम्' वा ईश्वरके अंशरूपसे व्यवहार हो तब ही वह शक्तियें सुखका हेतु होसकती हैं, उस समय वह बहुत्व में एकत्व को देखते हैं और अपनी स्वतंत्रता को छोडते हुए एकत्व को पाने की चेष्टा करते हैं। उस समय उनको अपनी अपेक्षा दुर्बलको अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेकी इच्छा होती है और अपना शरीर तथा मन जिसका कि संग्रह किया है, दूसरे देह और मनके साथ मिलकर व्यवहार करने को उनकी अभिलाषा होती है। इसका ही नाम निवृत्तिमार्ग है। इसी मार्गका अवलम्बन करके जीवात्मा प्रत्येक दीनदुःखी पुरुषको अपना सर्वस्व बांटकर समदर्शीपना पाता है।

इस दो मार्गोंके द्वारा क्रम विकाश का चरित्र गठित होता है। इस विकाशचक्र के मार्गमें विष्णुरूपी ईश्वर की इच्छा से उसका रचाहुआ जगत् चलायाजाता है। उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करना सत् और उसके विपरीत कार्य करना असत् कहाता है।

जहां प्रवृत्तिमार्ग निवृत्तिमार्ग में मिलगया है, यह विश्व उस ही परिवर्त्तन बिंदुमें स्थित है। अधिकतर मनुष्य आजकल प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन करके चलरहे हैं, परन्तु शीघ्रही निवृत्ति मार्गमें प्रवेश करते हुए ऊँची अवस्थाको पावेंगे। इसलिए जिस वासना, सङ्कल्प और क्रियाके द्वारा जीव निवृत्तिमार्गके बटो ही होसकते हैं और जिस मार्गका अंतिम मेल उस मार्गमें को ही जाकर होता है वह ही सत् है। जिसमें भेदभाव दूर होकर अभेदज्ञान उत्पन्न होता है, उसके लिये हमको निरन्तर यत्न करना चाहिये। जिसके द्वारा भेदभावना दूर होकर अभेदभाव का उदय होता है, वह ही सत है। जिसके द्वारा अभेदज्ञान नष्ट होता है और भेदभाव बढ़ता है वह ही असत् है। परन्तु पशु वा अभ्यास

मनुष्य के शरीरमें स्थित अपुष्ट जीवात्माओंकी स्वतन्त्रताका ज्ञान इससमय भी अत्यन्त क्षीण होता है, इसलिए उनको इससमय भी भेदभाव होना चाहिये, और जो उन्नत व्यक्तियोंकी दृष्टिमें सत् वा असत् प्रतीत होता, है वह उनकी दृष्टिमें वैसा नहीं होसकता इसी लिये नीतिसम्बन्धी ज्ञान, अवस्थाके अनुसार होता है, यह बात कहीजासकती है। जो कुछएक उन्नति पागए हैं उनको अपने अवलम्बित मार्गके अनुसार सत् असत् का ज्ञान होता है।

भीष्मजीने युधिष्ठिर से कहा था कि—धर्मनीतिकी गति अति सूक्ष्म है। मैं तुमको वेदवाक्योंके द्वारा उपदेश नहीं देता हूं किन्तु बहुत कुछ देखभाल से अनुभव उत्पन्न होनेपर जैसा वेद के अर्थ का अनुभव हुआ है,तैसा ही मैं उपदेश देरहा हूं,ऐसा जानो। कोई भी एकदेशदर्शी मनुष्य नीति के द्वारा इस संसार में अभीष्टसिद्धि नहीं करसकता, वेदों के वाक्य गूढ़ अर्थोंसे भरेहुए हैं, उनके अनुसार युक्तिपूर्वक कार्य करना चाहिये नहीं तो निष्फलता होतीहै

पहिले समयमें शुक्राचार्य उशनाने कहा था कि—वेदवाक्य अयौक्तिक हो तो उसका भी केवल वेदवाक्य होने से ही मान्य नहीं कियाजासकता (वास्तवमें वेदवाक्य अयौक्तिक नहीं होसकता, किन्तु युक्ति लगानेवाले के ज्ञान और युक्तिकी शक्तिके अनुसार यौक्तिक वा अयौक्तिक प्रतीत होसकता है) जो ज्ञान सन्देहपूर्ण हो उसकी आवश्यकता ही क्या ?। जो नीति केवल वाक्यगत है, अवस्था के अनुकूल नहीं है,उसके आचरणसे मनुष्य भ्रमके मार्गमें पड़जाता है। एक समय बड़ाभारी दुर्भिक्ष पडनेपर महर्षि विश्वामित्रजी ने चाण्डालसे अपवित्र मांस लेकर वह ही देवताओं को बलिरूपसे अर्पण किया था। क्षमागुण संन्यासी के लिये कल्याणकारक होनेपर भी वही राजा के लिये कल्याणकारक नही होसकता। कोई खास राजाका अपकार करे तो वह

उसको क्षमा करसकता है परन्तु प्रजामें के किसी साधारण पुरुष के ऊपर भी कोई अन्याय करे तो राजा उसको क्षमा नहीं करसकता, क्योंकि-वह अन्याय उसके अपने और देशभरके लिये अनिष्टकारक होता है। राजाके लिये, प्राणान्त दण्डके अयोग्य को प्राणान्त दण्ड देना जैसे पाप है तैसे ही प्राणान्तदण्डके पात्र को प्राणान्त दण्ड न देना भी पाप है। दृढ़ता राजाका आवश्यक गुण है। और सब प्रजा जिससे कि-अपने २ कर्त्तव्यको करै, इसके लिये कठोरता का अवलम्बन करना भी आवश्यक है। यदि राजा ऐसा न करे तो उसकी प्रजाके मनुष्य उच्छृंखल होकर भूखे व्याघ्र की समान दुर्बल की हत्या और परस्पर का नाश करडालें। एक पुरानी कथा है कि-प्रिय बोलनेवाली पत्नी ही श्रेष्ठ पत्नी है। जो पुत्र पिता माताको सुख देता है वह ही सुपुत्र है, विश्वासपात्र बन्धु ही बन्धु है, वही मातृभूमि है जहां जीविका प्राप्त हो, वही सच्चा राजा है जो अत्याचार न करकै कठोरता के साथ शासन करता है, जिसके राज्यमें धर्मपरायणको किसी प्रकार का भय नहीं है, जो दुर्बलोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करता है किस पुरुषको देश, काल और पात्रके भेदसे किस प्रकार धर्मकार्य करना चाहिये, इसका नियम बतानेके लिये ही आश्रम और वर्णोंका विभाग है। इससे मनुष्योंकी उन्नति होगी, और स्वच्छन्दता बढ़ेगी। सबको ही ईश्वर की इच्छा का निर्णय करने की शक्ति नहीं होती है, इसलिये जिसशास्त्रमें ईश्वरकी इच्छा का वर्णन है, उसके द्वारा हम सत् असत्का निर्णय करसकते हैं। व्यासदेव और कितने ही ऋषि धर्मग्रंथोंमें कुछएक नियम बतागए हैं, सबप्रकार से उनका पालन करना चाहिये। शास्त्र की सबही विशेष विधि सुगम नहा है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥ २०॥

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥ २१॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥ २३॥
महाभारत, शांतिपर्व २५१ अ०)

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन॥ ६७॥
महाभारत, शांतिपर्व, १२४ अ०

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्॥
याज्ञवल्क्य ३ अ०

अठारह पुराणों में व्यासजीके दो वाक्य हैं, एक तो यह कि-परोपकार करना ही पुण्य है और दूसरा यह कि-दूसरों को दुःख देना ही पाप है। जिसको दूसरेके करने पर अपने को प्रसन्नता नहीं होती है, तैसा व्यवहार अपनेआप भी किसीके साथ न करै जो अपने को प्यारा लगै वही व्यवहार दूसरेके साथ भी करै। जिसमें किसी को किसी प्रकार का कष्ट हो या जिसके करने में लज्जा मालूम हो वह काम नहीं करना चाहिये। इसी लिये जो अपने लिये दुःखदायक हो वह व्यवहार दूसरोंके साथ भी न करै

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ ८८॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ ८९॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ ९०॥
[मनु १२ अ०]

वैदिक कर्म दो प्रकार का है, जिससे कि-सुख होता है उस का सब शास्त्रों में प्रवृत्त नाम कहा है और जो अनुपम निःश्रेयस करनेवाला है उसका नाम निवृत्त है। ८८। इस लोक या परलोकमें सुख की आशा से जो कर्म किया जाता है उसको प्रवृत्त

कहते हैं और ज्ञानपूर्वक निष्कामभाव से जो कर्म कियाजाता है उसको निवृत्तकर्म कहते हैं ८९ प्रवृत्त कर्म करके मनुष्य देवताओं की समता को प्राप्त होता है और निवृत्त कर्मका सेवन करता हुआ तो पञ्चभूतों के पार होजाता है अर्थात् उसको जन्ममरणके चक्रमें नहीं पडना होता है ॥ ९० ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥
महाभारत, शांतिपर्व, २३१

युगके ह्रासानुसार सत्ययुग में और धर्म त्रेता में और धर्म, द्वापर में और धर्म तथा कलियुग में मनुष्यों के और धर्म होते हैं

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवाः ॥ ४६ ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ ४७ ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणङ्गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति होतीं है, जों व्यापक होकर सकल विश्वमय है, मनुष्य अपने कर्मके द्वारा उसका पूजा करके सिद्धि पाता है। स्वभाव ने जो कर्म जीव को दिया है, वह दोषयुक्त हो तब भी बुद्धिमान् उसको करै, परधर्म यदि सुख की खान हो तब भी स्वाभाविक धर्म में उसकी अपेक्षा अधिक गुण समझै । हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर सब जीवों को अपनी माया से यंत्र पर चढी हुई पुतली की समान घुमाते रहते ह। हे भारत ! सब प्रकारसे उनकी शरण लेनेपर सनातन शांतिस्थान को पाओगे ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥
(मनु २ अ०)

सकल वेद, वैदिकों की स्मृति और आचार, साधुपुरुषों का सम्मत आचार और जिस कर्मको करनेमें अपने आत्मा को संतोष हो, यह सब धर्मके मूल हैं ॥

—०—

चतुर्थअध्याय

नीतिका परिमाणदण्ड

जिस मानदण्डके द्वारा क्रमविकाश की वर्त्तमान अवस्था में कर्मका विचार कियाजाता है, उसका नाम समन्वय योग है । अधिकतर जीव इस समय भी इस अवस्था में आकर नहीं पहुंचे हैं, अधिकांश स्थानों में इसके द्वारा एकत्व घटित होगा या नहीं इस एक प्रश्नके द्वारा ही हम कर्मकी परीक्षा करसकते हैं। यदि प्रश्न का उत्तर हाँ हो तो वह सत् कर्म है, नहीं तो असत् कर्म है, इसी लिए प्रथम अध्याय में लिखा जाचुका है कि—धर्मनीतिकी सहायतासे मनुष्य परस्पर के साथ प्रेमभावसे रहसकते हैं प्रेम भावके साथ रहना ही एकत्व का प्रयोजक है ।

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवी और आसुरी संपदा की बात कही है। उन्होंने जो एकत्व के प्रतिपादक हैं, उनको दैवी और जो भेदभाव करनेवाले हैं उनको आसुरी सम्पदा कहा है ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाभिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३

(गीता १६ । १—३)

अभय, सत्वशुद्धि, ज्ञान तथा योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शांति, चुगली न खाना, सकल प्राणियों पर दया, लोभ न करना कोमलता, लज्जा, चपलता न होना, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, द्रोह और अभिमान न करना, यह दैवी सम्पत्ति को लेकर उत्पन्न होने वालोंके गुण मनुष्यों को परस्पर मिलाते हैं और यह सब गुण आत्माके एकत्व का ज्ञान होनेसे उत्पन्न होते हैं। और देखो भगवान् ने आसुरी सम्पत् का विभाग किसप्रकार किया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ८ ॥

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान, यह आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न होनेवालों के गुण मनुष्यों को परस्पर विच्छिन्न करते हैं। भगवान् ने आसुरी सम्पदावालों के रूप का जैसा वर्णन किया है, उससे प्रतीत होता है कि—आसुर पुरुष अहंकार और स्वार्थसे भरेहुए होते हैं।

अतएव छात्रोंको चाहिये कि—सत् असत् के भेद को उत्तमरूप से समझकर, उस ज्ञानसे अपने चरित्र का गठन करने में काम लें। आगेको शिक्षाके द्वारा तुम्हारा सत् असत् विषय का ज्ञान और भी बढ़जायगा, तब सत् असत् का तत्व सूक्ष्मरूप से हृदय में जमजायगा, उस समय कठिनता की सहज में ही मीमांसा हो जायगी, परन्तु मूलतत्व वा मानदण्ड वह एक ही रहेगा, क्योंकि मूलतत्व ईश्वर की इच्छा के अनुगत तत्त्व है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ ११९ ॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

[मनु १२ अ०]

सकल मोक्षसाधक कर्मों में आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह सब विद्याओं में प्रधान है और मोक्ष का निदान है ॥८५॥ सकल सत् असत्मय जगत् को ध्यान लगाकर परमात्मा में स्थित देखै, जो आत्मा में सकल विश्वका दर्शन करता है उसका मन अधर्म की ओरको कभी नहीं दौडता है ॥ ११८ ॥ आत्मा ही सकल देवता स्वरूप है और सब आत्मा में ही स्थित हैं ॥ ११९ ॥ इस प्रकार जो आत्मा के द्वारा सकल प्राणियों में आत्मदर्शन करता है वह सर्वसमता को पाकर परमपद ब्रह्म को पाजाता है ।१२५।

पञ्चम अध्याय

—:○:+:○:—

धर्म की भित्ति

हमने देखा है कि परस्पर की सहानुभूति सनातनधर्ममें सत्कार्य कहीगईहै और यहही एकत्वकी साधक है नित्य पञ्चयज्ञ करने से मनुष्यकी ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और जीवोंके साथ सहानुभूति उत्पन्न होती है।सनातनधर्म और एक उपायसे हमको सत्कार्य करनेका उपदेश देताहै,वह उपाय तीनप्रकारके ऋणोंको चुकाना है।ब्रह्मचर्यको धारकर अध्ययन और अध्यापनाके द्वारा ऋषियोंका ऋण चुकायाजाता है। गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करके परिवार का प्रतिपाल और (श्राद्धादि) दान कर्मके द्वारा पितृऋण चुकता होताहै और वानप्रस्थाश्रम का अवलम्बन करके यज्ञ और ध्यान आदिके द्वारा देवऋण चुकता होता है।

जिसको हमने लियाहै वह हमको लौटाकर देना ही होगा, ऐसे लेनेका नाम ऋण है। कर्त्तव्य के साधन का नाम ह धर्म है। कर्त्तव्य की अवहेलना (लापरवाही) का नाम ही पाप है, धार्मिक जन चिरकाल तक कर्त्तव्यका पालन करते हैं। परमात्मा के लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतएव वह कर्त्तव्य का पालन भी नहीं करता है।

भीष्मजी ने धर्म को सत्यस्वरूप और ब्रह्मस्वरूप कहा है क्योंकि- जो सत्है वहही सत्य है। सत्यही भगवान् की प्रकृति है। प्रकृति की सकल विधि सत्यका प्रकाशमात्र है। वह निरन्तर अपरिवर्त्तनीयभावसे संपन्न होता रहता है। अनेकों अनात्म पदार्थों में भी आत्माका एकत्व ही महासत्य है। अन्य सर्वोमें का सत्य और विधि भी उस सत्यकी ही प्रतिस्मृति है। यह सत्य नीतिशास्त्र में सब को आत्मवत् समझने का उपदेश देता है; हमको सदा सत्य बात कहना चाहिये, क्योंकि किसीसे झूठ बोलने पर उसको धोखादेना मानो अपने को धोखा देना है क्योंकि- जो कुछ हम जानते हैं, वह दूसरे एक आत्मस्वरूपका न जानने देनेसे भेदभाव होता है। जानकर या अनजानमें असत्य व्यवहार करने पर ऐसा भेदभाव होजाता है तब अनेकों प्रकार का कष्ट आपडता है और पापकी उत्पत्ति होती है। जैसे धर्म सत्यस्वरूप है तैसे ही नीति भी है। क्योंकि-सत्यसे ही एकत्व बढ़ता हैं और असत्य व्यवहार ही भेदभाव होनेका कारण है।

हिन्दू साहित्यमें वर्णन कियेहुए महापुरुषोंका एक प्रधानगुण सत्यवादी होना है। मैंने आजन्म कभी झूंठ नहीं बोला, यह वाक्य महान् वीरपुरुषोंको परमप्रिय है। श्रीकृष्णजीने प्रतिज्ञाकी थी कि कुरुक्षेत्र के युद्धमें अस्त्रधारण नहीं करूंगा, परन्तु जब अर्जुनकी सहायताके लिये भीष्मजी के ऊपर आक्रमण करनेको उद्यत हुए तब अर्जुनने कहा कि-आप अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न करिये। युधि-

ष्ठिरने भी इसीकारण जयकी आशासे हताश होकर भी श्रीकृष्ण जीसे सहायता करनेको प्रार्थना नहीं की। युधिष्ठिरने भयङ्कर प्रयोजन में पड़कर सत्यमार्ग से बिंदुमात्र चलायमान हो द्रोणाचार्यके सामने 'अश्वत्थामा हत इति गजः' ऐसा कहा था। उसके फल से उनको नरक का दर्शनतक करना पडा और युद्ध के समय रथ के पहिये की शक्ति नष्ट होगई थी। पांडवों के वनवास के समय श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिरसे कौरवों के प्रतिकूल सेना भेजने को कहा था। परन्तु ऐसा करने में उनके वनवास की प्रतिज्ञा की ठीक २ रक्षा नहीं होती थी, इसकारण युधिष्ठिरने कहाथा कि-पांडुपुत्र सत्यमार्ग से विचलित नहीं होंगे। विशेष हानि होने पर भी प्रतिज्ञा की रक्षा करना ही पुरुषार्थ है। जिस समय प्रल्हाद ने इन्द्रसे त्रिलोकी का स्वामित्व ग्रहण किया था, उससमय इन्द्र ब्राह्मण के कपटवेषसे प्रल्हादके शिष्य बने थे, प्रल्हाद उनके ऊपर इतने प्रसन्न हुए कि-उनको इच्छित बर माँगने की आज्ञा दी, इन्द्रने उनसे उनका शील अर्थात् स्वभाव चरित्र आदि मांगा था। यद्यपि प्रल्हाद समझगए थे कि-शील दे देने पर अपना अनिष्ट होगा, तथापि अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की।

जिस समय भीष्मजी की सौतेली माता सत्यवती ने उन से राज्यसिंहासन का स्वीकार और विवाह करनेको कहा तब भीष्म जी ने उत्तर दिया था कि-मैं त्रिलोकी का परित्याग करसकता हूं, स्वर्ग का राज्य वा उससे भी अधिक जोकुछ है वह सब त्याग सकता हूं, परन्तु सत्यसे नहीं डिगसकता। पृथिवी चाहे गन्धको त्यागदेय, जल चाहे गीलेपन को त्यागदेय, उजाला चाहे अपने प्रकाशमात्रको त्यागदेय, वायु चाहे अपनी स्पर्शशक्ति को त्याग देय, अग्नि चाहे अपनी गरमाई को त्यागदेय, चन्द्रमा चाहे अपने शीतलगुणको त्यागदेय, शून्य चाहे अपनी शब्द उत्पन्न करने

की शक्तिको नष्ट करदेय, इन्द्र चाहे अपने बलके घमण्डको छोड देय और धर्मराज भी चाहे अपनी न्यायपरायणता को छोड दें, परन्तु मैं अपनी सत्य प्रतिज्ञा को नहीं छोडसकता।

दृढप्रतिज्ञ कर्णने स्वाभाविक धर्मके साथ जन्म ग्रहण कियाथा देवता पांडवोंके पक्षमें थे। पीछे भारतयुद्ध में अर्जुन उस स्वाभाविक धर्मके कारण ही कर्णको नही जीतसकते थे, इस भयसे देवता बड़े व्याकुल हुए थे। कर्णका नियम था कि–वह प्रतिदिन प्रातःकालसे मध्यान्हतक पूर्वकी ओर को मुख करके बैठा हुआ वेदका गान किया करता था, उस की प्रतिज्ञा थी कि–उससमय कोई भी ब्राह्मण उसके समीप आकर जो कुछ माँगता था वह उसको वही दिया करता था। एक दिन इन्द्र बूढ़े ब्राह्मणका वेष धरकर उसीसमय पर आकर कर्णसे भिक्षा माँगने लगे, कर्णने कहा कि–यदि तुम्हारी माँगीहुई वस्तु मेरे वशकी होगी तो मैं अवश्य ही दूंगा, तब इन्द्रने कहा कि–तुम मुझको अपना सहज धर्म दो। कर्ण ने कहा, कि–तुम्हारे इसप्रकार की भिक्षा मांगने से मैं समझगया कि–तुम सरल स्वभाव के ब्राह्मण नहीं हो, साक्षात् देवराज इन्द्रने पाण्डवों के मङ्गल की कामना से मुझ से यह भिक्षा मांगी है, खैर जो कुछ हो। जब कि–मैं देऊँगा, यह शब्द मुखसे कहचुका हूं, तब देना होगा ही, यह बात पलट नहीं सकती। यद्यपि मैं समझता हूं, कि–आपकी मांगी हुई वस्तु देने पर मुझको प्राणतक देने पडेंगे। इतना ही नहीं किन्तु प्राणों से भी अधिक प्रिय अर्जुनको जीतनेकी मेरी आशा भी नष्ट होती है, तथापि मैं अपनी बातको नहीं लौटसकता, इतना कहकर कर्णने अपनी तलवार से उस सहजधर्म को शरीरसे अलग करके इंद्रके हाथ में देदिया। उससे फल क्या हुआ! अर्जुनको जीतनेसे उस की जो कीर्त्ति होती, आज भी उस से सौगुणी कीर्त्ति, दीर्घजीवन और बड़े भारी नामके वह अधिकारी होरहे हैं।

राजा दशरथ अयोध्यापुरी के स्वामी थे। एकदिन वह देवताओंकी सहायताके लिये असुरों का नाश करने को गए, उनकी स्त्री कैकेयी उस युद्ध में साथ ही गई थी, दैत्योंके साथ युद्ध करते में जब राजा घायल होकर मूर्छित होगए, तब कैकेयी ने उनको एकांतस्थान में लाकर प्राणरक्षा तथा यत्न और शुश्रूषाके द्वारा उनकी मूर्छा दूर की, इसके लिये राजा ने कैकेयीं को दो वर दैने की प्रतिज्ञा की थी। कैकेयीने जब उससमय उन वरोंको न लेकर कहा कि-मैं अपने इन वरों को फिर कभी लेलूँगी। बहुत दिनों के अनन्तर जब राजाके वडे पुत्र रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तयारी हुइ उस समय कैकेयी ने दासी कुब्जा की सम्मति के अनुसार एक वरसे रामचंद्रजीको चौदहवर्षके लिये वनवास और दूसरे वरसे अपने पुत्र भरतको राज्याभिषेक मांगा। राजाने समझा कि–यह वरदान देनेसे अवश्य ही मेरी मृत्यु होजायगी, तथापि वह सत्य का भंगहोनेके भयसे वरदान देकर अपने आप मृत्युके मुखमें पडे। सत्य कानाश होनेकी अपेक्षा प्राणोंका नाश होना उन्होंने अच्छा समझा। चा० रघुकुल रीति सदा चलिआई। प्राण जाहिं पर वचन न जाई॥

देवराज बलि स्वर्गको जीतकर त्रिलोकीके एकछत्र अधिपति बनगए थे। जब उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया तब विष्णुने वामन स्वरूप से उनके यज्ञ में जाकर तीन चरण भूमि की भिक्षा मांगी, दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने ऐसा दान करने से बलि को रोकना चाहा और कहा कि-यह वामन स्वयं विष्णु हैं, तुझको छलके द्वारा बांधने को आये हैं। इसके उत्तरमें बलिने कहा कि–प्रह्लाद का पोता झूठी बात कहना नही जानता, मैंने इस ब्राह्मणके बालक को जो कुछ देनेके लिये कहदिया है वह अवश्य ही दूँगा। बालक चाहे विष्णु हो और चाहे मेरा परम शत्रु ही हो, उसमें कुछ आता जाता नही, जब वामन ने दोहीं पगमें त्रिलोकी को नापलिया तब बलि ने तींसरे चरण भूमि के बदले में अपना मस्तक अर्पण करके अपने

सर्वनाश को ही महासंपत्ति माना। यह देख भगवान् विष्णु ने उसको आशीर्वाद देकर कहा कि–समस्त धनसंपदा गई, शत्रु के हाथमें बन्दी होगये, बान्धव, छोडगये, गुरुने बुराभला कहा, तब भी हे बलि! तुमने सत्यका त्याग नहीं किया। पुराणों में कहा है कि–इस महत्कार्यके कारण, जब पुरंदर का इन्द्रपद पूराहुआ तब बलिने इन्द्रपदवी पाई।

सत्य ब्रह्मस्वरूप है, नृसिंहतापनी उनिषद्‌में लिखा है कि–'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म'। परब्रह्म ही सत्य और पुण्यस्वरूप है, इसलिये जो ब्रह्मकोखोजते हैं उनको सत्यवादी बनना चाहिये इसकारण बालकोंको सत्यवादी होना सबसे अधिक आवश्यक है॥

जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते।
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः॥

(मनुटीकायां कुल्लूकधृत वेदवचनम्)

ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणों का ऋणी होता है। वह तीन ऋण यह हैं–देवऋण, पितृऋण, और ऋषिऋण। यज्ञ करने से देवऋण, सन्तान उत्पन्न करने से पितृऋण और सदा वेद का स्वाध्याय सरने से ऋषिऋण छूटता है॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ ३५॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ ३६॥

तीन ऋणों को चुकाकर मोक्षमें मन लगावै, विना ऋणों को चुकाये मोक्ष की चेष्टा करने से अधःपतन होता है॥ ३५॥ विधिपूर्वक वेदशास्त्रोंको पढ़कर, धर्मसे पुत्रोत्पत्ति करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष पानेके लिये मन लगावै ३६

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः॥ ११॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

परस्पर सहायता करके परमश्रेय पाओगे॥ ११॥ इस चक्र को छोड़कर जो अपने सुखको खोजता है उसका जीवन पापमय जानो, इन्द्रियों के आराम में ही मन रखताहुआ वह हे पार्थ! वृथा ही जीता है॥ १६॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥
सत्यं धर्मस्तपो योगो सत्यं ब्रह्म सनातनः।
सत्यं यज्ञः परः मोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥

महाभारत अनुशासनपर्व १६२ अ०

सत्यही साधुओं का धर्म है, सत्य ही सनातनधर्म है। सज्जन सत्य को ही नमस्कार करते हैं, सत्यही परम गति है, सत्य हा धर्म और तप है, सत्यही सनातन ब्रह्म है, सत्य ही योग जप है, सत्य को ही श्रेष्ठ यज्ञ कहा है,सत्यमें ही सब प्रतिष्ठित है,सत्य ही नित्य अविकारी है, सत्य ही अविनाशी है, यह सकल धर्मों के अविरोधी योग से प्राप्त होता है। समता, दम, अमत्सरता, क्षमा, लज्जा, सहनशीलता, ईर्षा न करना, त्याग, ध्यान, आर्यभाव, धैर्य, दया और अहिंसा यह तेरह सत्य के आकार हैं॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः॥

(महाभारत, वनपर्व ६३ अ०)

अङ्ग उपाङ्गों सहित विस्तार के साथ सुन्दररीति से पढ़ेहुए

चारों वेद तराजू के एक ओर और केवल एक सत्य को दूसरा ओर रक्खो तो वेदों से सत्य भारी उतरेगा ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥

(महाभारत वनपर्व । २४१ अ०)

मनुष्य का, सत् मनुष्यों पर जितना विश्वास होता है उतना अपने ऊपर भी नहीं होता-इसीकारण मनुष्य सत्-जनों के साथ प्रेम करने की हरसमय इच्छा करते हैं ॥

सत्यं सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ते।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोस्ति सद्भ्यो भयं नानुभवन्ति सन्तः॥
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यम्, सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥

सत्-पुरुषों का सदा सनातनधर्म में प्रवृत्ति रहती है, साधु कभी खिन्न वा दुःखित नहीं होते हैं, साधुओं का समागम निष्फल नहीं होता है, साधुको देखकर साधु कभी भयभीत नहीं होते हैं। साधुओं के सत्य के बलसे सूर्यका उदय होताहै, साधुओं के सत्य के बलसे पृथिवी ठहरी हुई है, साधु ही भूत भविष्यत् की गति हैं और साधुओं में साधु कष्ट नहीं पाते हैं ॥

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वञ्च तद्वद ॥
लोभो मात्सर्यमीर्षा च कुत्साऽसूयाऽकृपाभयम्।
त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः ॥

(महाभारत, शांतपर्व २३ अ०)

क्रोध काम, शोक, मोह, विधित्सा, परासुता, लोभ, मत्सरता, ईर्षा, कुत्सा, असूया, अकृपा और भय यह तेरह मनुष्य के बड़े भारी शत्रु हैं ॥

यस्य विद्वान् ह वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।

तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

(मनु० ८ अ०)

जिसके राज्य में क्षेत्रज्ञको आशंका नहीं होती है देवता उस से दूसरे किसी को श्रेष्ठ नहीं कहते ॥ ९६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

(गीता २ अ०)

तेरा अधिकार कर्म करनेमें ही है, कर्मफलोंमें कदापि नहीं, कर्मफलकी आशाको त्याग और अकर्मके संग से सदा बच ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म

(गोपालतापनी १ अ०)

सत्य परब्रह्मका स्वरूप और परम पवित्र है ॥

षष्ठ अध्याय

आनन्द और भाव

ईश्वर चिन्तामय, गतिमय और आनन्दमय है, इसकारण उस की सन्तान मनुष्योंमें भी यह तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जब जीवात्मा स्थूल आवरण में ढकाहुआ होता है, उससमय उसकी आनन्दमय प्रकृति चिरकालतक आनन्दको खोजने में लगी रहती है। जगत् के साथ सम्मिलन होने से उसकी जो आनन्द पाने के लिये चेष्टा होती है, वह बाहरी चेष्टा ही वासना कहाती है। जब वासना जीवात्माको ऐसे किसी पदार्थके साथ बांधदेती है कि-जिसमें सुख मिलता है, तब उस पदार्थको पानेके लिये बार २ वासना होती है। इस वासना से जिस भावका उदय होता है, उसका नाम अनुराग है। यदि जीवात्माको किसी पदार्थके साथ संग होने से कष्ट होता है तब उस पदार्थको त्यागनेकी वासना उत्पन्न होती है। उसके द्वारा जिस भावका उदय होता है, उसका नाम विराग वा

घृणा है। पहिले कहेहुए भावके द्वारा जीवात्मा और पदार्थमें एक प्रकारका आकर्षण और दूसरे भावके द्वारा विप्रकर्षण (विलग होना) उत्पन्न होता है।

जीवात्मा इस अनुराग और विरागके विषयमें परस्पर विचार करके अन्तमें सद्भावसे भाव (अनुराग) करनेका अभ्यास करने लगते हैं। सकल भाव इसप्रकार ईश्वरेच्छाकी अनुगत युक्ति के द्वारा चालित होकर धर्मस्वरूपको प्राप्त होजाते हैं। इस लिए भाव की स्पष्टता से मनुष्यकी नीतिविषयक उन्नति होती है । यदि मनुष्य भली वासना नामक प्रेमभावको पुष्ट करते हैं तो क्रमसे उनकी परिवार, समाज, जाति और सकल विश्व के साथ एकता (मेल) उत्पन्न होती है। उनका अपनी समान भला चाहे, यह वासना धीरे २ बढ़ती हुई, प्रेमरूपको प्राप्त हो अन्तमें आनन्दमय होजाती है ! इसी लिये छान्दोग्य उपनिषद्‌ में लिखा है-

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, नान्यद्विजा-
नीति, भूमैव सुखम् ॥ २३ । १ ॥ यत्रनान्यत्पश्यति,
नान्यत् शृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा ॥ अथ
यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् ।
यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्त्यम् ॥ २४ । १ ॥

(छान्दोग्य ७ । २३-१ । २४-१)

जो अनन्त है वह ही सुख है, जो अल्प है उसमें ही सुख नहीं है, अनन्त में ही सुख है। जहां पहुँचनेपर कुछ देखा, सुना वा जाना नहीं जाता है वह ही अनन्त है परन्तु जहां और कुछ देखा जाता है, और कुछ सुनाजाता है तथा और कुछ जानाजाता है, वह अल्प है। जो अनन्त है वही अमृत है, जो अल्प (थोडा) है वही मर्त्य है।

इसप्रकारे विकाशवश सायुज्य होता है अर्थात् ईश्वरकी इच्छा स्वतन्त्र जीवात्माओंका एकत्र सम्बन्ध करके अपने में मिलालेती

है। इस मिलनमें ही सुख है, इस लिये जो सत् है वही सुखी है। वार २ सनातनधर्म यह मीमांसा करता है कि-ब्रह्म ही आनन्द है इसीकारण ब्रह्मस्वरूप जीवात्मा भी आनन्दमय है । जब जीव गन्तव्य मार्गको छोडकर कुमार्गमें को जाता है, उसीसमय आनन्द का अभाव होजाता है, इसकारण ईश्वरकी इच्छाका विपरीतभाव ही अधर्म है।

ब्रह्म वेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं ।
सच्चिदानंदरूपं इदं सर्वम् ॥ ७ ॥

(नासिंहतापनी)

वह सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, यह सब ब्रह्मरूप, सत्‌चित्, आनन्दमय हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥ ७ ॥

(कठ ४ वल्ली)

स्वयंभू ने इन्द्रियों के द्वार बाहरको कर दिये, इसी लिये मनुष्य भीतर को नहीं देखता है ॥ ७ ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति ना सुखम् ।
लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति ॥ ७ ॥

(छान्दोग्य ७ । २२ । १)

जीव जिस में सुख पाता है सदा वही करता है, जिसमें सुख नही मिलता उसको कभी नहीं करता है।

सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्दस-
मुद्रोऽविशिष्टसुखस्वरूपानन्द इति ।

(सर्वसार)

सुख और चैतन्यका अनन्त सागर आनन्द ही सुख है उससे बढ़कर सुख और कोई नहीं है।

इष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिः, अनिष्टविषये बुद्धिः दुःखबुद्धिः ।

(सर्वसार)

इष्टविषय की बुद्धि सुखबुद्धि है और अनिष्ट विषयकी बुद्धि दुःखबुद्धि है।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते। सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते २७

महाभारत शांतिपर्व २३१

सुखमें सब आनदिंत होते हैं और दुःख से सब डरते हैं।२७।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यांति परन्तप ॥ २७ ॥

(गीता ७ अ०)

हे शत्रुनाशक अर्जुन! प्राणी जब इस शरीरको धारण करते हैं तब अनुराग और द्वेषमूलक सुख दुःखादिजनित मोहसे एकैसाथ अन्धे होजाते हैं, इसीलिये आत्माका दर्शन नहीं करसकते॥२७॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(गीता अ० १३)

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना और धैर्य इसको संक्षेप में विकारसहित क्षेत्र जानो ॥ ६ ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥

(गीता ३ अ०)

यह काम और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न हैं॥

इन्द्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

(गीता अ० ३)

इन्द्रियका इन्द्रिय के लिये रागद्वेष है, उनके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि–वह शत्रु हैं॥ ३४ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

(गीता २ अ०)

रागद्वेषहीन और अपने वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा जो जितेन्द्रिय

पुरुष विषयसुख को भोगता है, वह चिरकालतकके समयको शांति सुखके साथ बिता देता है ॥ ६४ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

(गीता १६ अ०)

जो शास्त्रकी विधिको छोडकर यथेच्छाचार से वर्त्तता है, वह सिद्धि कभी नही पाता और न सुख पाता है न शान्ति पाता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो एक सकल प्राणियों का नियंता अन्तरात्मा है, जो कि– एक रूपको ही अनेकरूप करलेता है, उस अन्तर्यामीका जो ज्ञानी अपने में दर्शन करते हैं, उनका ही नित्य सुख मिलता है, औरों को नहीं मिलता है॥

—०—

सप्तम अध्याय

आत्मानुगत धर्म

इससे पहिले कहाजाचुका है कि–जीवात्मा का अपने समीप के समूह के साथ संबंध है, उस संबन्ध को सुखदायक बनादेना ही नीतिशास्त्र का उद्देश्य है, परन्तु अपने देहकोषों के साथ जीवात्मा का विशेष संबन्ध है, इस बातको भूलजाने से काम नहीं चलेगा। यह अनात्म पदार्थ ही वर्त्तमान समय में उसके सब की अपेक्षा अपने हैं, इस लिये उनके साथ ठीक २ संबंध हुए विना उसका अन्य देहों के साथ कदापि सुखदायक संबंध नहीं होसकता। जबतक जीवात्मा बालक रहता है तबतक यह देह उस के

ऊपर प्रभुता रखते हैं और उसको अनेकों कष्टों में डाल देते हैं। उमर बढ़नेके साथ २ वह इन देहोंको अपने वशमें करने की चेष्टा करताहै, इसके लिये उसको अनेकों युद्ध करने पडते हैं। तदनंतर उस के आत्मशासन और संयमशक्तिकी पुष्टि होती है। जीवात्मा जो सकल दोष और अन्य वृत्तियोंपर प्रभुता करता है। इसका ही नाम संयम है। यह सकल देहों के आश्रित धर्मका नवीन श्रेणीविभाग के अनुकूल आत्मानुगत धर्म है। सब ही समझ सकते हैं कि-जिनमें यह सब गुण हैं वहही दूसरेके साथ साम्यभाव रखसकते हैं, दूसरे ऐसा नहीं करसकते।

धर्मकी व्यवस्था देनेवाले मनुजी ने आत्मसंयम की विशेष प्रधानता मानी है और उसके विषयमें कितने ही सुन्दर उपदेश दिये हैं। उन्होंने कहा है कि-कर्म में तीन शक्ति हैं, उन तीनोंको वशमें करलेना चाहिये। कर्म, मन, वाणी और शरीरका आश्रय करके उत्पन्न होता है। यथा—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥

अर्थात् कर्म शुभ और अशुभ फलको उत्पन्न करता है, यह कर्म-देह, मन और वाणीसे उत्पन्न होता है, और इस कर्म के फल से ही मनुष्य को उत्तम, मध्यम और अधम गति मिलती।

मन वा मनोमय कोष का आश्रय करके सब प्रकारके भावकी उत्पत्ति होती है, उसको वशमें करना होगा। यह ही परम कठिन काम है। क्यों कि-मन निरन्तर वासनारूप पदार्थ का अनुगामी है, यह निरन्तर अनेकों वस्तुओं के पाने की अभिलाषा के द्वारा चालित और शासित होता है। सकल वासनाओंको पूरी करने के लिये व्यग्र और उनवासनाओं का दास होजाता है। जीवात्मा का पहिला कर्त्तव्य है कि-मनको उस दासभाव से छुटावै, फिर

उसको सकल इंद्रियों की शक्ति और इन्द्रियरूपी यन्त्र की प्रभुता पर स्थापित करके अपने कार्य में लगावै। मनुजी ने कहा है-

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादिन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणे नोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका तथा पायु, उपस्थ, हस्त, पाद और दशवीं वाणी है। इनमें क्रमसे श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और पायु आदि पाँच कर्मेन्द्रिय कहाती हैं। ग्यारहवां मन है, जो कि अपने गुणसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंद्रिय उभयात्मक कहाता है, इस मनको जीत सकनेपर पांचों ज्ञानेन्द्रिय और पांचों कर्मेन्द्रिय वशमें होजाती हैं। इसलिये छात्रोंको मनको वशमें करनेके लिये विशेष यत्न करना चाहिये; जब मन कुमार्ग में को जाना चाहे, उस समय उसको लौटाकर सुमार्गमें को प्रवृत्त करे। आत्मसंयम रूपी कार्य का यह ही प्रथम और अत्यन्त कठिन काम है।

दूसरा उपाय वाग्दण्ड है। बात कहनेसे पहिले विचार करके बात कहना चाहिये। विना विचारे बात कहनेसे अनेकों कष्ट उठाने पडते हैं। अर्जुन बात कहने से पहिले विचार करके नहीं देखते थे, इसीलिये उनको अनेकों समय अनेकों कष्टों में फँसना पडा था। एक बार उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि-यदि सूर्यास्त होने से पहिले पुत्रका वध करनेवाले जयद्रथ का वध न करसकूंगा तो आत्मघात करके अपने प्राणों को त्यागदूंगा। परन्तु उस दिन जयद्रथ को पाने की कुछ आशा ही नहीं थी। केवल श्रीकृष्णजी के चक्रसे धोखा खाकर सूर्यास्तसे वहुत पहिले सन्ध्याके भ्रमवश वाहर निकल आये थे। अर्जुनने भी अपनी प्रतिज्ञाको पूरी करने

का यह अवकाश पालिया। एकवार युधिष्ठिरके साथ विवाद उपस्थित होनेपर उनकी ऐसी अवस्था हुई थी। वह सब कथा महाभारतमें विस्तारके साथ वर्णित है। किसी एक प्रतिज्ञाकी रक्षा नहीं करसके, इसीलिये अर्जुनको महाप्रस्थानके समय मार्गमें ही प्राणत्याग करना पडा था। अर्जुनके देह त्यागका कारण बूझाजाने पर युधिष्ठिरने कहा था कि-अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी एक दिन सब शत्रुओंको नष्ट करडालंगा। परन्तु अपनी वीरता के अहंकारमें जो प्रतिज्ञाकी थी उसको पूरी नहीं करसके, इसीलिये उनका पतन हुआ, जो वाग्दण्डमें समर्थ होता है, उसको आत्मसंयम करनेमें अधिक विलम्ब नहीं लगता है।

तीसरा देहदंड है। भौतिक शरीरका भी दमन करनेकी आवश्यकता है, जिससे कि-वह हमको अनुचित कर्ममें को चलाकर पापग्रस्त न करदेय। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

जवानी की अवस्था ही देहके दमन करनेका समय है, क्योंकि उस समय ही इसको सहजमें जीतकर सन्मार्गमें चलायाजासकता है। देह अभ्यास का दास है, यद्यपि प्रथम २ जीवात्माकी इच्छा के अनुकूल होनेमें कष्ट प्रतीत होताहै, परन्तु बहुत थोडासा अटल निश्चयके साथ उद्योग करने पर अति सहजही में देह का संयम होजाता है। एक वार अभ्यास करादेने पर देहको अभ्यस्त मार्ग में को चलादेना बहुत कठिन नहीं होता है।

आत्मसंयम के द्वारा हमको जिन पापों और दुःखोंकी जडको नष्ट करना होगा, उनमें स्वार्थ की वासना ही सबसे बढ़कर है क्योंकि-भूतलके सुख और सम्पदाओंकी कठिनतासे पूरी होनेवाली कामनाओंसे ही बहुतसे दुःखोंकी उत्पत्ति होतीहै उन कामनाओं को त्याग देनेसे ही शान्ति मिलती है। कामनाओंको पूरी करने

से शान्तिलाभ होना कठिन है, इस बातको मङ्की समझगए थे मङ्कीने लोभवश धनके लिये बहुत कुछ उद्योग किया परन्तु उनकी आशा पूरी नहीं हुई। वह अपने बचेबचाये धनसे बैलोंके दो बछडे खरीदकर उनको हल चलानेके लिये अभ्यास करानेलगे, परन्तु भाग्य वश यह दोनों जिस एक रस्सीमें बंधे थे वह एक जातेहुए ऊँटमें उलझ गई, उसमें ही खिचडकर और लटककर उन बछड़ोंका मृत्यु होगई इस अन्तकी दुर्घटनाके होने पर मङ्की के हृदयमें से कामना दूर होगई, तब मङ्कीने गान करनेका आरंभ किया कि-जो सुखकी आशा करता हो उसको विषयवासना त्याग देनी चाहिये। शुकदेवजीने ठीक ही कहा था कि-यदि दोजनोंमें एक मनुष्य अपनी सब अभिलाषाओंको पाजाय और दूसरा अपनी सब अभिलाषाओंको त्यागदेय तो वह पहिलेकी अपेक्षा निःसंदेह बहुत ऊंचा है, क्योंकि-आजतक किसीने वासनाओं की अवधि पाई ही नहीं, हे आत्मन्! तुम इतने दिनों से लोभके दास थे, आज दासभाव छूटा है, इस समय स्वाधीनता और शान्ति के मधुर स्वाद का उपभोग करो। इतनेदिनों से सोरहा था, अब नहीं सोऊँगा, जागता ही रहूंगा। हे वासना! अब तू मुझको नहीं भुलासकेगी। जिस विषय में को तूने मेरे हृदय को खेंचा है, उसका अनुगामी होने से तूने मुझको जबरदस्ती उसी में आसक्त किया है, वह वस्तु मुझको मिलसकेगी या नहीं, इसका एकवार विचारतक भी नहीं करने दिया। तुझको बुद्धि नहीं है, तू मूर्ख है, तू चिरकाल तक कभी तृप्त न होनेवाले अग्नि की समान निरन्तर धधकती रहती है, तुझको निरन्तर आहुति पाने की वासना रहती है, तुझको तृप्त करना असम्भव है, तू बड़ेभारी खाली मैदान की समान है, देखरहा हूं-मुझको दुःख के समुद्र में डुबादेना ही तेरी एकमात्र वासना है। आज मैं तुझसे अलग होगया, हे कामना! अब आज से मैं तेरा संग नहीं चाहता। अब मैं तेरा या तेरे दल

बल का विचार भी नहीं करूँगा। आज से मैंने तुझको अपने मन की सकल वृत्तियों के साथ छोड़ा। मैंने अनेकों वार हताश होकर कष्ट भोगा है, आज मेरा मन शान्त हुआ। आजसे मुझ को जो कुछ स्वयं सिद्ध मिलजायगा उससे ही जीवनयात्रा का निर्वाह करूंगा, अब का मनाओं को पूरी करने के लिये परिश्रम नहीं करूंगा, आज मैंने पहिचान लिया कि-तू मेरी शत्रु है, तुझको दलबल सहित त्यागकर उसके बदले में शान्ति, आत्म-संयम, क्षमा, दया और मुक्ति पाई है। इसप्रकार मङ्की ने थोड़ा ही सा त्याग करके सब कुछ पालिया!

ययाति राजा का वृत्तांत भी सुनाने योग्य है। उन्होंने वासना के वशीभूत हो, अपने पुत्रों से जवानी लेकर कभी पूर्ण न होने वाली लालसा को चरितार्थ करने की चेष्टा की थी, उपाख्यान इसप्रकार है—

चन्द्रवंश में एक नहुष का पुत्र ययाति नामक राजा था, उस को इन्द्रियों को तृप्त करनेकी बड़ी ही लालसा रहती थी, इसी कारण उसके श्वसुर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने उसको शाप देदिया था, उस शापके कारण असमय में हा बुढ़ापे ने आकर उसको घेरलिया, उस समय शुक्राचार्यजी को प्रसन्न किया तब उन्होंने कहा कि तुम्हारे पुत्रोंमेंसे जो कोई चाहेगा हजार वर्ष के लिये तुम्हारा बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी तुम को देसकेगा। ययाति ने क्रम२ से अपने पांचों पुत्रों से बूझा तब छोटे पुत्र पुरुने उन को प्रसन्न करने के लिये अपनी इच्छा से अपनी जवानी देकर हज़ार वर्ष के लिये बुढ़ापा लेलिया। तदनन्तर हज़ार वर्षतक निरन्तर इन्द्रिया की सेवा करके भी राजा को तृप्ति नहीं हुई, उसकी इन्द्रियें वशमें न होने पर भी वासना दूर नहीं हुई। अन्त में हज़ार वर्ष वीतने पर राजो के मनमें वैराग्य हुआ। राजाने समझा कि विषयभोग से वासना की तृप्ति नहीं होती है, किन्तु

उसको त्यागने से तृप्ति होती है, तब राजा ने पुरू को बुलाकर अपना बुढ़ापा लौटालिया और उसको जवानी और अपना राज्य देकर वनको चलागया उस समय राजा ने कहा था कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात् कामना कामनाओं के भोग से शान्त नहीं होती किंतु घी डालनेसे जैसे अग्नि अधिकतर धधक उठती है, तैसे ही बढ़जाती है।

अब जरा श्रीकृष्णजी के कहेहुए अहिंसा शब्दके विषय पर भी थोडासा विचार करना चाहिये। भीष्मजी ने एक जगह उप-देश दिया है कि—अहिंसा परम धर्म है हमको किसीका अनिष्ट नहीं करना चाहिये, हमारा जीवन दूसरोंकी सहायताके लिये ही बना है, किसी को भी कष्टदेनेके लिये नहीं रचागया है। यह अहिंसा देहके संयमसे उत्पन्न होनेवाला धर्म है। बृहस्पति जीने कहा है कि-जो पुरुष सकल प्राणियोंके ऊपर दया दिखाता है वह सबसे अधिक मङ्गल पाता है जो अपने लिये कष्टदायक है तैसा व्यवहार किसीको भी दूसरे के साथ नहीं करना चाहिये, यह ही सत्कार्यों का मूल नियम है।

मनुष्य अनेकों वार अनजान में भी दूसरों को कष्ट देता है, उससे भी बहुतसी विपत्तियें पैदा होजाती हैं। जिससमय युधि-ष्ठिर, दुर्योधन और जो उनके भाई बालक थे, वह सब एक सङ्ग पढ़ा करते थे। भीमसेन उन सबसे बली थे, वह सबके साथ समय२ पर मल्लयुद्ध (कुश्ती) आदि किया करते थे और बालकस्वभाव वश चपलताके कारण असावधानभावसे दुर्बल और छोटी अव-स्था के बालकों को भय भी दिखाया करते थे। जब बालक फल इकट्ठे करनेमें व्यस्त होते थे, उससमय दोनों हाथोंसे वृक्षको पकड़ कर हिलातेहुए उनको दिक करडालते थे। कोई बालक पकेहुए

फलका समान वृक्षपर से भूतलपर गिर पड़ता था तो भीमसेन हँसते हुए वडा आमोद मानते थे, परन्तु उस चोटके साथ किसी२ बालक के मनपर आघात पहुंचता था। किसी समय भीमसेन नदीपर स्नान करनेको जाकर जलमें गोता लगाजाते थे और साथ में ही कितने ही बालकों भी गोता देकर मृतप्राय करदेते थे, क्योंकि–इनके शरीर में अधिक शक्ति होने के कारण गोता लगा जानेमें भी कुछ कष्ट नहीं होता था, परन्तु और बालकोंके प्राणों पर आवनती थी इसमें भीमसेन वडा आमोद समझते थे, परन्तु जरा विचार कर देखो अन्तको इसका परिणाम क्या हुआ ? उस बालकपन की मनकी मलिनताने ही बढकर, समयपर कौरव और पाण्डवोंमें शत्रुताका बीज बोदिया। उससे ही कौरव और पाण्डव दोनों दल भस्माभूत होगये। भीमसेनकी वह बालकपने की चपलता ही कुरुक्षेत्र के महासंग्रामका कारण हुई।

ठीकही है कि–शीघ्र बल उठनेवाले घासफूँसके बिना साधारण चिनगारी से काठ नहीं जलता, पेशी के रोगयुक्त हुए विना रोग के बीजाणु उसमें आश्रय नहीं पासकते, तथापि सर्वदाहक अग्नि की चिनगारी के विषय में क्या हमको असावधान रहना चाहिये मृत्युदायक रोग के बीजाणुओं से हम को सदा सावधान रहना चाहिये। जब चपलता के कारण कोई अपने बल के भरोसे पर दुर्बल के ऊपर अत्याचार करता है, उस समय दुर्बल बदला नहीं लेसकता, यह ठीक है, परन्तु उसके हृदय के भीतर जो क्रोधका बीज उत्पन्न होता है, वह घृणा, इर्षा आदिका स्वरूप धारण करलेता है। जो कुछ भी हो दुर्बलके ऊपर बलवान् का अत्याचार करना सर्वथा अनर्थकारकहै। जिस का मन दूसरे को पीडा देने से प्रसन्न होता है, वह अपने आप ऐसे व्यवहार को चाहे अच्छा समझ बैठे, परन्तु न्यायकी दृष्टिसे देखाजाय तो वह क्षुद्रताका काम और उत्पीडन है। कुरुक्षेत्र के महा-

संग्राम के वृत्तान्तका धीरता के साथ विचार करने पर पाण्डव पूर्णरूप से प्रशंसा के पात्र और कौरव सर्वथा निन्दा के पात्र नहीं होसकते।

मन, वाणी और देहके दण्डरूप त्रिदण्डको धारण करने से न्यायपरायणता और चरित्र उत्तम होता है तथा श्रेष्ठ व्यवहार करने की योग्यता उत्पन्न होती है। जिस पुरुष ने अपने को सब के साथ सत् सम्बन्ध के सूत्र बाँधलिया है, जिसने अपने भाव, देह, मन और आत्मानुगत धर्म को वशमें करलिया है, वह दूसरों के लिये अपने जीवन को वितासकता है।

मनुष्यों में परस्परसम्बन्ध के कारण जो पुण्य और पापकी उत्पत्ति होती है, इसवार हम उनके ही विषयकी आलोचना करेंगे। उनको तीन श्रेणी में बांटाजासकता है।

१- गुरुजनोंके साथ व्यवहार करने से उत्पन्न हुआ पाप और पुण्य
२- समान अवस्थावालोंके साथ व्यवहारसे जनित पाप और पुण्य
३- निकृष्टों के साथ व्यवहार से जनित पाप और पुण्य।

इसप्रकार हम जिन धर्मों के द्वारा, अपने समीपवालोंके साथ व्यवहार से उत्पन्न हुए साम्यभाव को पासकते हैं उनको श्रेणी बद्ध करके विचार करसकेंगे। सबही धर्म पवित्र प्रेमसे उत्पन्न हुए हैं और उनका फल आनंद है। सब पापों की मूल घृणा है और उसका फल दुःख है।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्याप्रवर्त्तकम् ॥ ४ ॥
मानसं मनसैवायमुपभुंक्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैवतु कायिकम् ॥ ८ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति ॥ ११ ॥
(मनु० १२ अ०)

शुभ, अशुभ कर्म, मन वाणी और देहसे उत्पन्न होताहै और उसीके अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम गति होती है ॥ ३ ॥ देहीके मनका भाव मनवाणी और देहके आश्रयसे तीन प्रकारका होता है, उसके भीतरी दश लक्षण हैं, जिनको धारण करके मन विद्या का प्रवर्त्तक होता है ॥ ४ ॥ मन के द्वारा करेहुए शुभाशुभ कर्मके फलको यह देही मनके द्वारा ही भोगता है, वाणीके द्वारा करेहुए कर्मके फलको वाणी के द्वारा भोगता है और शरीर के द्वारा कियेहुए कर्मके फलको शरीरसे भोगता है॥८॥ जिसकी बुद्धि में वाग्दंड, मनोदंड, और देहदंड उत्तमरूप से स्थित है उस को ही शास्त्र त्रिदण्डी कहता है, केवल हाथमें दंड लेलेना तो लोकदिखावा है ॥ १० ॥ काम क्रोध को दबाकर त्रिदण्डी होकर सकल प्राणियों का हित करने में तत्पर हो तब वह त्रिदंडकी सिद्धि का फल पाता है ॥ ११ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन, शरता, सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीर का तप (देहदंड) कहाता है ॥ १४ ॥ किसी को उद्वेग न देने वाला सत्य, प्रिय और हितकारी

वाक्य कहना तथा प्रतिदिन वेदपाठ करना यह वाणी का तप (वाग्दंड) कहाता है ॥ १५ ॥ मनको प्रसन्न रखना, सौम्यभाव, इंद्रियोंको वशमें रखना, मौनभाव, यह भीतरी भावका शुद्ध करने वाला मानस तप (मनोदण्ड) कहाता है ॥ १६ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृत्स्नवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ३७ ॥
महाभारत अनुशासनपर्व

कामनाओं के भोगसे कामना की शांति नहीं होती है, किन्तु जैसे घी डालने से अग्नि पहिले से भी अधिक बल उठता है तैसे ही विषयभोग से कामना अधिक २ बढ़ती हीं जाती है ॥ ३७ ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
(गीता ६ अ०)

हे अर्जुन ! निःसंदेह मनका चञ्चल होने के कारण वशमें होना कठिन है, परन्तु अभ्यासयोग और वैराग्य की सहायता से वशमें होसकता है ॥३५॥ यह चंचल अस्थिर मन जब २ दौड़े इसको रोक कर अपने वश में करै ॥ २६ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
(गीता १२ अ०)

यदि अभ्यास योग करने में असमर्थ है तो तत्पर होकर मेरे निमित्त कर्म करता रहै मेरे निमित्त कर्म करताहुआ भी सिद्धि पाजायगा ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां शांति शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥
(कठ ६ वल्ली)

नित्यो में नित्य, प्राणोंका प्राण जो एक बहुत होकर कामनाओंको पूर्ण करता है, अपनेमें स्थित उसका जो ज्ञानी दर्शन करते हैं, वही नित्य शांति पाते हैं, दूसरों को शांति नहीं मिलती १३

गोत्रजः सहजशत्रुरित्यसौ
नीतिवस्तुधनलोभदुधियाम् ।
वृद्धतुल्यलघुपुं वृतं जग—
द्वोधनस्य पितृमित्रपुत्रवत् ॥ १७॥
(वाल्भारत उद्योगपर्व)

धनके लोभी दुर्बुद्धि कहा करते हैं कि–गोत्रका पुरुष स्वाभाविक शत्र होता है, परन्तु जो ज्ञानधनके धनी हैं वह इस वातको ठीक नहीं मानते तथा वह बड़ों को पिता समान बरावर वालोंको मित्रसमान और छोटों को पुत्र समान मानते हैं ॥ १७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगाषते ।
अमित्रान् वा जितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २६ ॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेषरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ३० ॥
(वाल्भारत; उद्योगपर्व १३८ अ०)

जो अपने को बिना जीते मंत्रियों को जीतना चाहता है अथवा मंत्रियोंको अपने वशमें विना किये शत्रुओं को जीतना चाहता है उसकी विजय कभी नहीं होती है किंतु अपना ही गर्व खर्व होता है ॥२६॥ और जो पहिले अपने आपे को ही शत्रु मानकर जीत लेता है, और फिर शीघ्रता से मंत्रियों को वशमें कर लेता है तब रणमें शत्रुओं को अवश्य ही जीतलेता है, उसका परिश्रम कभी निष्फल नहा जाता ॥ ३० ॥

धर्मस्य विषये नैके ये वै प्रोक्ता मनीषिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥
दमं निःश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥
अदांत पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान ॥ १३ ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तेषां लिंगानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

ऋषि मुनियोंने अपने २ ज्ञानके आश्रय से धर्मकी जो अनेकों शाखायें कही हैं, उन सबका परम आश्रय दम है ६ निश्चय दर्शन करने वाले वृद्धोंने दमको ही परम मङ्गल देनेवाला कहा है और ब्राह्मणके लिये विशेष करके दमको सनातनधर्म कहा है । १७ । दमहीन पुरुष सदा क्लेश पाता है और इस अपने ही दोष से उत्पन्न हुई और भी बहुतसी आफतों में पड़जाता है ॥ १३ ॥ चारों आश्रमों के लिये दम श्रेष्ठव्रत है उनके लक्षण कहता हूं कि जिनके होने से दम उत्पन्न होता है १४ क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इंद्रियों को जीतना, चतुराई, कोमलता, लज्जा, चपल न होना ॥१५॥ कृपण न होना, क्रोध न करना, संतोष, मीठा बोलना, किसीका चित्त न दुखाना, और किसीके गुणोंको देखकर दोष न निकालना, यह सब होने पर दम का उदय होता है ॥ १६ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ६२ ॥

मनु० अ०६

धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियोंको वशमें रखना शास्त्रानुकूल बुद्धि, विद्या का अभ्यास, सत्य बोलना और क्रोध न करना यह दश धर्मके लक्षण हैं ॥ ९२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीम्मनुः ॥ ६३ ॥

अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, और इन्द्रियों को वशमें रखना, यह मनुजीने चारों वर्णोंका संक्षेप से धर्म कहा हैं ॥ ६३ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

चोरी न करना, क्रोध न करना, सत्यभाषण, लज्जा, शौच, शास्त्रीय बुद्धि, धैर्य, दम, इन्द्रियोंको वशमें रखना और विद्या, इतने में सब धर्म कहदिया है ॥ ६६ ॥

अष्टम अध्याय

गुरुजनोंके साथ व्यवहार

निःस्वार्थ प्रेमसे हमारे आत्मत्याग की वासना उत्पन्न होती है, और सर्व साधारण के हितकारी कार्य में प्रवृत्त होती है, इस कारण निःस्वार्थ प्रेमभाव ही धर्मकी मूल है, इसके द्वारा ही एकत्व की प्राप्ति होती है। जो वासना हमको, दूसरेकी सामग्री लेकर अपने सुखके लिये दूसरेकी हानि करके भी वासना की सामग्री में हस्तक्षेप करनेको प्रवृत्त करती है वह ही पाप का मूल है, इससे ही भेदभाव की उत्पत्ति होती है। जिससे प्रेमभाव करते हैं उसके लिये ही हम त्याग करना चाहते हैं, इस त्याग करनेकी चाहना में आनन्द होता है। इससे ही हम समझ सकते हैं कि-परम गंभीर

सुख, यथार्थ आनन्द, त्यागसे ही प्राप्त होता है। वह ही जीवात्मा का आनन्द है और किसी वस्तुके ग्रहणसे जो आनन्द प्राप्त होता है वहहै देह का ।

प्रेमभाव से मनुष्य किसप्रकार गुरुजनोंके साथ व्यवहार करना सीखता है, इसकी आलोचना करनीं है। मनुष्यके गुरु-ईश्वर, राजा, पिता, माता, शिक्षक और वृद्ध लोग हैं ।

ईश्वरसे प्रेम करनेके द्वारा ही हम उनका मान्य करते हैं, उन की साधना और उपासना करते हैं तथा उनकी इच्छाके अनुकूल होकर चलना चाहते हैं। जो ईश्वरसे प्रेम करते हैं, वह सब ही ईश्वरके प्रति ऐसे भाव दिखाया करते हैं। भीष्मजीने किसप्रकार विष्णुके अवतार श्रीकृष्णजी की पूजा और सन्मान किया था। देखो राजसूय यज्ञके समय भीष्मजीने प्रथमहा श्रीकृष्णजी को धन दान करनेको पंडितोंको अनुमति दी थी। नारदजीने कहा था कि-विश्वके आदि पुरातन श्रीकृष्णजीकी पूजासे जिनका मन पवित्र नहीं है वह मीठे वाक्य और श्रेष्ठ व्यवहारके योग्य नहीं हैं । जो पुरुष कमलदलनयन श्रीकृष्णजी की पूजा करना नहीं चाहते हैं वह जीते हुए भी मरे हैं। तिसी प्रकार मरणके समय भीष्मजी शरीर वाणी और मनसे श्रीकृष्णजी का ध्यान करते हुए उनका आशीर्वाद पानेके लिये व्याकुल हो उठे थे। बड़े भारी व्याख्यानके अन्तमें उन्होंने विष्णुके सहस्र नाम का कीर्त्तन किया और शरीर को त्यागनेसे पहिले श्रीकृष्णजी की आज्ञा लेना ही उनको अन्त का वाक्य था।

दैत्यपति हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रल्हादजी भगवद्भजनके प्रसिद्ध उदाहरण है। उनको गुरुने जितना उपदेश दिया उसके बदलेमें उन्होंने निरन्तर स्थिरभावसे हरिपूजा और हरिनामका कीर्त्तन ही किया। उन के पिता ने उन को मारडालने का उद्योग किया परन्तु इस भयसे भी उनकी भक्ति चलायमान नहीं हुई, उनकी

हरिभक्ति के गुणसे मदमत्त हाथी भी उनके ऊपर अपने चरण का प्रहार नहीं करसके,जिस भारी पत्थरसे दबाकर उनको कुचल डालनेका कियागया था वह भी उनकी छातीपर रुईका गालासा मालूम हुआ। जिस तीखी तलवार से उनका मस्तक उतारलेने का विचार कियागया था, वह भी उनके शरीर से छूते ही खुटली होगई जिस विषको पिलाकर उनके प्राणलेना चाहे थे, वह भी उनके लिये निर्मल शीतल जलकी समान प्यासको शान्त करने वाला हुआ। अन्तको भगवान् नृसिंह रूप धार स्फटिकके खंभे को फाड़कर अवतीर्ण हुए और हरिभक्त प्रह्लादको चिरकाल के लिये विपत्ति से छुड़ादिया।

ध्रुव ने सौतली माता के अनुचित व्यवहार से पिताके भवन को त्यागकर श्रीहरि की आराधना के लिये जैसी एकाग्रता, साहस और दृढ़ निश्चय दिखाया था, वह अतुलनीय था। श्रीहरि ने उन को दर्शन देकर त्रिलोकी की सीमा से बाहर ध्रुवलोक की स्थापना का, जिसमें स्थित होकर ध्रुवजी राज्य करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी के पूर्ण मानवचरित्र में ईश्वर की इच्छा के अनुवर्त्तन गुण का पूरा २ उदाहरण देखने में आता है। जब वह राज्यलाभ से वञ्चित हुए उस समय उन्होंने प्रसन्नता के साथ सब को शान्त किया था, और सबको समझा दिया था कि—जगत् में जो कुछ होता है वह मङ्गलके लिये होता है। वह ऐसे प्रबल आँधीके झोके में परम शान्तभाव से अटल बनेरहे।

इसके सिवाय जो परम पुरुषमें श्रद्धा नहीं रखते हैं, हम पग २ पर उनका तिरस्कार देखते हैं। विश्वविजयी रावण लङ्का का अधिपति था,उसकी समान पराक्रमी कितने ही राजे,ईश्वरकी प्रतिकूलता करके नाश को प्राप्त होगए। मगधराज जरासन्धने श्रीकृष्ण के वाक्यका तिरस्कार करके बन्दी राजों को न छोड़ा, इसी

कारण उसको भीमसेन के हाथ से प्राणत्याग करना पड़ा था। शिशुपाल कृष्णकी निन्दा करके उनके चक्र के प्रहार से परलोकवासी हुआ। श्रीकृष्णजी की सम्मतिका तिरस्कार करके दुर्योधन भाइयों सहित मारागया। ऐसे असंख्यों उदाहरण दिखाये जासकते हैं। इस से यह शिक्षा मिलती है कि—जो ईश्वरका तिरस्कार करेगा, उसको अवश्य ही अकालमृत्युके मुखमें पड़नाहोगा।

राजभक्ति का भी शास्त्र में वार२ उपदेश दिया है। उदाहरण से भी इस की आवश्यकता प्रमाणित होती है। जिस समय युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ (देहली) में राज्य करते थे, उनके चारों भ्राताओंने दिग्विजय के लिये जा, विजयमें मिलाहुआ, धन लाकर उन के चरणोंमें अर्पण किया था। उन्होंने राजाके लिये ही युद्ध किया था, अपनी विजयकी अभिलाषाको पूर्ण करने के लिये युद्धनहीं किया। जिस समय युधिष्ठिर जुए में हारकर वनवासी हुए, उस समय प्रजा के लोग उनके पीछे २ जाने के लिये तयार हुए थे। तब युधिष्ठिर ने कहा कि—हे प्रजा के लोगों ! तुम हस्तिनापुर को लौटजाओ और आजकल के अपने यथार्थ राजाकी आज्ञा का पालन करो। क्योंकि-ऐसा करने में ही उनकी भलाई होना सम्भव थी।

राजा अपने कर्त्तव्य का ठीक २ पालन करता था, इसकारण ही राजभक्ति की वृद्धि हुई थी। अङ्गिरावंशी उतथ्ययुवनाश्वकुमार ने राजा मान्धाता को उपदेश दिया था। उन्होंने कहा कि—'हे मान्धाता ! न्याय पूर्वक सब की रक्षा करनेके लिये राजा की उत्पत्ति है,अपनी इच्छानुसार काय करने के लिये राजा पैदा नहीं हुआ है। राजा पृथिवी का रक्षक है। राजा सद्भाव से कार्य करे तो भूतल पर ईश्वरकी समान पूजापासकता है,परन्तु यदि अन्याय का व्यवहार करेगा तो उस को नरक में जाना पड़ेगा

सकल जीवोंकी रक्षा न्याय के साथ ही होसकती है, वह न्याय-परायण भी राजा से ही रक्षा पाती है, जो न्याय करता है वही यथार्थमें राजा नाम पानेके योग्य है। यदि राजा अन्यायके व्यवहारके दण्डके द्वारा दूर नहीं करता है तो देवता उसके घर को त्यागजाते हैं और वह लोक में निन्दा पाता है।

देशका हित चाहना और जातिके गौरवकी रक्षा करने की इच्छा करनाभी राजभक्तिकी समान श्रेष्ठ गुण है। यह तीनों परस्पर पृथक् नहीं रहसकते। राजा स्वदेश दोनों राजभक्ति के लक्ष्य हैं। किसी मनुष्य में भी स्वदेशभक्ति का अभाव नहीं होना चाहिये। सबको ही चाहिये कि-अपने देशके लिये प्राणतक त्यागने पड़ें तब भी पीछेको न हटें। क्यों कि देशहितैषीपन और अपनी जातके गौरव। की रक्षाका ख्याल न होनेसे जातीय गौरव नहीं रहसका, परंतु जातीय गौरव का होना भी सबकी अपनी २ और परिवार २ की उन्नतिके ऊपर निर्भरहै। संपूर्ण समूह और उसके अंश भिन्न२ नहीं हैं। जातीय गौरवकी रक्षा करने की इच्छा होनेपर देश के सकल निवासियों की उन्नति या दुःख अपना प्रतीत होनेलगता है और वास्तव में है भी यही बात। इसने मनुष्य को दुर्बल की विपत्तिसे रक्षा करनेके लिये और दुष्टको दण्ड देनेके लिये वासना उत्पन्न होती है। नियमके पालन और रक्षा के लिये यत्न होता है। न्यायके लिये खड़े होने की प्रवृत्ति होती है, और जाति को अवश्य देने योग्य वस्तु देनेमें भी कुछ आपत्ति नहीं होती है। भारतवर्ष के पुरातन वीर पुरुष दूसरोंके मङ्गलके लिये कमरकसे तयार रहते थे। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सकल प्राणियोंकी उन्नति की चेष्टा करनेके लिये और प्राणियों को धर्ममार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये उपदेश दिया था। जो पुरुष केवल अपने और अपने परिवारके मङ्गल की कामना करताहै उसकी दृष्टि बड़ी ओछी है वह निःसंदेह अपने और अपने परिवार के आगामी सुखको नष्ट करता है।

पूर्णरूप से पिता माताका आज्ञाकारी होना चाहिये, यह आज्ञा सनातनधर्ममें सबही जगह देखनेमें आती है। पिता माता के आज्ञाकारी होने का उज्ज्वल दृष्टांत श्रीरामचन्द्रजी हैं, जिससमय राजा दशरथने विवश होकर केकैयीको श्रीरामचंद्रजी के वनवास का वर दिया था, उस समय कैकेयीने श्रीरामचंद्रजी से कहाथा कि तुम्हारे पिता डरके मारे अपने मनकी बात प्रकट नहीं करसकते हैं, यह सुनकर श्रीरामचंद्रजी ने कहा कि तो उनके मनकी बात तुमही कहदो, मैं इसीसमय उसको पूर्ण करूंगा। पिताकी इच्छा पूरी करने का समान तथा उनकी आज्ञा का पालन करने की समान क्या और भी कोई काम है ? और सबोंकी सकल युक्तियों के प्रतिकूल उन्होंने कहा कि-मेरी शक्ति नहीं है कि-जो मैं पिता की आज्ञा का उल्लंघन करूं, मैं पिताकी आज्ञाका पालन करूंगा, तदनंतर पिता का मरण होनेपर जब भरतजी किसी प्रकार भी राज्य ग्रहण करने को राजी नहीं हुए तबभी उन्होंने कहा कि-तुमको राज्यसिंहासन ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि-पिताकी आज्ञासे जब मैं वनवासी होता हूं तो तुमको भी राजा होना चाहिये, हमें तुम्हें दोनोंको पिता की आज्ञा मानना उचित है। हमारे पिता जी की आज्ञा मिथ्या नहीं होनी चाहिये।

महाभारत में हमने एक ब्रह्मज्ञानी की कथा पढ़ी है। वह अपवित्र व्याधका शरीर धारण करके अपने माता पिता के समीप कनिष्क नामक ब्राह्मणको लाये थे। जिस सुन्दर घर में उन के माता पिता रहते थे, उसी घरमें वह उस ब्राह्मण को लेकर गये और कहा कि-मुझको आजकल जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह सब केवल माता पिता की सेवा से ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने मातापिता के चरणों में प्रणाम करके ब्राह्मण का परिचय कराया तदनंतर ब्राह्मणसे कहा कि—यह माता पिता ही मेरे आराध्य देवता हैं। जो बर्त्ताव देवताओंके साथ करना चाहिये वहीं मैं इन

के साथ करता हूं। ज्ञानियोंने जो तीन प्रकारकी अग्नि की कथा कही है, मैं इनको ही वह अग्नि मानता हूं। हे ब्राह्मण! मेरी दृष्टि में यह ही यज्ञ हैं और यहहीं चारों वेद हैं। पिता, माता, पवित्र अग्नि, आत्मा और गुरु इन पांचों का सन्मान सबको करना चाहिये। तदनंतर उन्होंने कनिष्क से कहा कि-बूढ़े माता पिता को चिंता से व्याकुल छोड़कर वेद पढ़ने के लिये घर का त्याग करना उचित नहीं है, किन्तु तत्काल घरको जाकर उनकी सांत्वना और शुश्रूषा करना चाहिये। हे ब्राह्मण! शीघ्र ही लौटकर पिता माताके समीप चलेजाओ और सावधानी के साथ ध्यान देकर उनकी शुश्रूषा करके सन्तुष्ट करो। मैं इस से बढ़कर किसी धर्म को नहीं समझता।

भीष्मजी ने जिसप्रकार अपनी इच्छानुसार मृत्यु होनेका वर पाया था, वह किसी से छुपा नहीं है। उन्होंने अपने पिता के विवाहके लिये स्वयं चिरकालतक कौमारव्रत धारण कर राज-सिंहासन त्यागदिया था। चन्द्रवंशी राजा शान्तनु सत्यवती नामकी सुन्दरी रमणी के साथ विवाह करने की अभिलाषा करके भी केवल प्यारे पुत्र भीष्म के लिये ही इस कार्य को नहीं करसकते थे। वह मन में विचारते थे कि-सौतेली माता आकर मेरे प्यारे पुत्र के साथ न जाने दयापूर्वक व्यवहार करेगी या नहीं! परन्तु सत्यवती के साथ विवाह न करसकने के कारण उन का मन बड़ा ही दुःखित हुआ। भीष्मजी इस रहस्य को जानकर सत्यवती के पिताके समीप गए और उससे उसकी कन्या का अपने पिता राजा शान्तनु के साथ विवाह करनेका अनुरोध किया सत्यवतीके पिता ने कहा कि-राजा बूढ़ा होगया, अब शीघ्र ही तुम राजा होजाओगे, मैं अपनी कन्या तुम्हारे हाथ में अर्पण करसकता हूं, परन्तु बूढ़े राजा को अर्पण नहीं करसकता भीष्मजीने कहा-'यह

बात मनमें भी मत विचारो। हमारे पिता की तुम्हारी कन्या के साथ विवाह करने की इच्छा है, इस कारण वह मेरी माता की समान है, उसको तुम पिताको ही अर्पण करो। सत्यवतीके पिता ने कहा कि-यदि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि-मेरी कन्या के गर्भ से जो पुत्र होगा, वही राजा होगा, तो मैं राजा के साथ अपनी कन्या का विवाह करदूं गा। भीष्मजी ने कहा कि-मैंने अपना जेठपने का अधिकार छोड़ा, निःसन्देह सौतेली माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र ही राजा होगा। सत्यवती के पिताने कहा कि मैं जानता हूं कि-आप की बात मिथ्या नहीं होसकती, परन्तु आपके पुत्र तो राज्यके लिये विरोध करेंगे भीष्मजीने कहा कि-मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि—इस जीवन में विवाह ही नहीं करूंगा, तब मेरे पुत्र न होनेसे कोई विरोध करनेवाला होगा ही नहीं, अब तुम मेरे पिता की अभिलाषा पूरी करो। उनकी इस भयङ्कर प्रतिज्ञा को सुनकर देवता एकसाथ कहनेलगे कि-"इतने दिनों से तुम्हारा नाम देवव्रत था, परन्तु आज से तुम्हारा भीष्म नाम होगा। वह अपने लिये भीष्म हैं, परंतु हिंदुओं के हृदय के वह परम प्यारे आराध्य देवता हैं। आज भी हरएक हिंदू अन्ततोगत्वा भीष्माष्टमी के दिन—

वैयाघ्रपद्यगोत्राय सांकृतिप्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येतत्सलिलं भीष्मवर्मणे॥

ऐसा कहकर तर्पण करता है।

महाराज शांतनु ने जब सुना कि-उनके प्यारे पुत्रने अतिकठोर व्रत धारण करके सत्यवती को उनकी पत्नी होना पक्का करलिया है तब उन्होंने सत्यवती के साथ विवाह करलिया। उन्होंने आनन्द भरे हृदय से भीष्मजी को अपनी इच्छानुसार मृत्यु होने का वर दिया। जो मनुष्य इसप्रकार मनकी वृत्तियोंको जीतसकते हैं वह मृत्यु को जीतलेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है?।

दूसरी ओर देखिये-दुर्योधनके उग्रस्वभाव और पिता माताकी आज्ञा को न मानने के कारण ही महायुद्ध ठना था और उसके फल से कुरुवंश का ध्वंस होगया। बार २ उसके पिता आदि गुरुजनों ने पांडवों को उनका भाग देनेके लिये कहा, परन्तु दुर्योधनने उसको अनसुना करदिया। यहांतक कि उसकी माता गान्धारीने बीच सभा में पिता की आज्ञा को पालने का उपदेश दिया, परन्तु दुर्योधनने उसका कहना न मानकर उलटी सीधी सुनाई उस सकल पाप के फल से ही उसका सर्वनाश होगया। जो सन्तान माता पिता के मनको कष्ट देती है, उसका कल्याण कभी हो ही नहीं सकता।

सनातनधर्मकी आज्ञानुसार शिक्षा देनेवाला गुरु भी माता पिता का समान पूजनीय है। उनका सम्मान और सेवा करनी चाहिये प्राचीन हिन्दुओंमें इस गुरुभक्तिके भी अनेकों दृष्टान्त देखने में आते हैं। वह भी हिंदुबालकोंके आदर्श होनेयोग्य हैं -जब पाण्डव, भीष्म और द्रोणाचार्य के प्रतिकूल अस्त्र धारण करने को लाचार हुए उस समय भी उन्होंने भीष्म और द्रोणाचार्य के प्रति कितना प्रेम और कितना सन्मान दिखाया था। उन्हों ने युद्ध का आरम्भ होने से पहिले गुरुओं के चरणों में प्रणाम करने की सूचना दी। जिस समय धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य का वध करने को उद्यत हुआ, उस समय अर्जुन ने चिल्लाकर कहा था कि-अरे! आचार्य को जीवित रख, उनका नाश न कर, वह वध करने के योग्य नही हैं। जब द्रोणाचार्य मारेगये तब अर्जुनने रोते २ कहा कि-मैं नरक में डूबगया, अब लज्जा के कारण मैं मुख दिखलाने योग्य नहीं रहा।

सनातनधर्म में पहिले प्रतिज्ञा और शास्त्र में बताए हुए कर्त्तव्य (धर्म) की रक्षाके लिये, गुरु की आज्ञा को न मानने का दृष्टान्त देखने में आता है। इस धर्मके उदाहरणरूप भीष्मजी हैं

उनके जीवनने गुरुके कहने को न मानने का प्रयोजन दिखाया है। उनके पिता शान्तनुका मरण होनेके अनन्तर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सौतेले भाई चित्रांगदको राजा बनाया और चित्रांगदके युद्धमें मारेजाने पर उसके छोटे भाई विचित्रवीर्य को हस्तिनापुरके सिंहासन पर बैठाया। विचित्रवीर्यके लिये योग्य स्त्री की खोज करते २ उन्होंने सुना कि-काशीके राजाकी तीन कन्या स्वयंवरा होंगीं, उनको सब प्रकारसे भ्राताके योग्य समझकर काशी में गए और उनको स्वयंवर की सभा में से बलात्कार करके लेआये। हस्तिनापुर में आजाने पर अम्बिका और अम्बालिका ने अपनी इच्छासे विचित्रवीर्यके साथ विवाह करलिया। परन्तु उनमें बडी बहिन अम्बाने कहा कि-मैंने पहिले ही अपने मनमें शाल्वको वर लिया है, इस लिये भीष्मजीने उस को यथोचित सन्मान के साथ राजा शाल्व के पास भेजदिया, परंतु शाल्व ने उसको ग्रहण नहीं किया उसने कहा कि-जब भीष्म तुझको बलात्कार करके मुझ से छीनलेगए हैं, तब फिर तुझको उन की दीहुई दानस्वरूप में नहीं लेसकता। अम्बा भीष्मजी के पास फिर आकर कहने लगीं कि -शाल्व मुझ को स्वीकार नहीं करता, तब आप ही मेरे साथ विवाह करलीजिये। भीष्मजीने अपनी पहिली प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिये उस के साथ विवाह नहीं किया, क्योंकि—वह जीवन भर के कौमार ब्रह्मचर्य का व्रत धारचुके थे, उस समय अम्बा क्रोध में भरकर भीष्मजी के गुरु परशुरामजी की शरणमें गई। परशुरामजी ने उसका पक्ष लेकर भीष्मजी से उसको ग्रहण करने का अनुरोध किया, परन्तु भीष्मजी ने अपने कौमारव्रत का नाश करनेवाली इस अनुचित आज्ञाका पालन करना मनमें उचित नहीं समझा इस कारण गुरु और शिष्य में घोर युद्ध होनेलगा और बहुत दिनों तक होता रहा। दोनों घायल हुए बहुत

वार वह क्लान्ति और रुधिर वहनेके कारण मूर्च्छित हुए परन्तु मूर्छा दूर होनेपर फिर युद्ध किया, इस प्रकार जब अट्ठाईस दिन बीतगए तब वृद्ध परशुरामजीने कहा कि—अब मुझ में शक्ति नहीं है, भीष्मजीकी ही जय हुई। जो कुछ भी हो भीष्मजी अम्बाके दुःख का कारण अवश्य हुए, यद्यपि यह अपराध उन्होंने जानकर नहीं किया था, तथापि कर्मफलसे अम्बा ही उनकी मृत्यु का हेतु हुई।

वृद्धोंका सन्मान करना, पुराने समयके हिन्दुओंके चरित्र का एक प्रधान गुण था।अधिक अनुभवसे उत्पन्न हुआ ज्ञान, वृद्धोंका इकट्ठा कियाहुआ धन, वह अपनी इच्छासे उस ज्ञानके योग्य पात्र नम्र और धैर्यवान् शिक्षा चाहनेवाले को देते थे। परन्तु आजकल के नवयुवा इस गुण को पैरोंसे कुचलरहे हैं। अब भी जिसमें इस की फिर चर्चा हो, इसके लिये सब प्रकारसे उद्योग करना चाहिये

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पंथा योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १८ ॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिञ्च हतौजसम् ॥ १९ ॥
सतां प्रसंगान्मम वीर्यसम्विदो-
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५ ॥
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियात्।
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो।
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६ ॥
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां।
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।

योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या।
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७ ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २५)

अखिलात्मा भगवान् में भक्ति करने की समान योगियों को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेका दूसरा कल्याणकारक मार्ग नहीं है॥१८॥ जिसका मन ज्ञान, वैराग्य और भक्तिभाव से युक्त होता है वह निर्मल सनातन ब्रह्म का दर्शन करता हुआ प्रकृति को तेजोहीन देखता है॥ १९ ॥ जहां साधुसमागम होता है तहां मेरे चरित्रका हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथा होती हैं, जिनको सुनने से शीघ्रही मोक्षमार्ग में श्रद्धा और प्रीति तथा भगवान्की भक्ति की वृद्धि होती है।२५॥ मेरी सृष्टि आदि लीलाओंका चिन्तवन करनेसे विषयों से वैराग्य और भक्तिका उदय होता है, उद्योगी होकर मन योग में तत्पर होता है और मनुष्य चित्त को वशमें करनेके लिये यत्न करने लगता है॥२६॥ तब प्रकृतिके असेवन का वैराग्य उसके मनमें ज्ञान का उदय करदेता है तथा योग और मुझको अर्पण करीहुई भक्तिसे मनका अन्धकार दूर होकर मुझ परमात्मा का दर्शन मिलता है॥ २७ ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते विश्वचक्रम् ॥१॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तन्देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ।७।
न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।

स कारणं कारणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ६ ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां
एकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्था येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

श्वेताश्वतर ६ अ०

मोहमें पडकर कोई विद्वान् कहते हैं कि–जगत् का कारण स्वभाव है, कोई कहते हैं विश्वका कारण काल है परन्तु संसार में भगवान् की ऐसी महिमा है कि–जिसके द्वारा यह संसारचक्र घूमरहा है, उसका कोई वर्णन नहीं करसकता ॥१॥ वह ईश्वरों का ईश्वर है, देवताओं का परम दैवत है, वह लोकपतियों का भी पति परम पुरुष है, हम तो उसको देवपूज्य और विधाता का भी विधाता जानते हैं ॥७॥ उसके शरीर इन्द्रियादि कुछ नहीं हैं, उसकी समान श्रेष्ठ भी कोई नहीं है, उसकी नाना प्रकारकी परा शक्ति शास्त्रोंमें सुननेमें आती है, उसकी बलक्रिया और ज्ञानक्रिया स्वाभाविक है ॥ ८ ॥ संसार में उसका कोई पति नहीं है, ऐसा कोई चिन्ह नहीं है कि–जिससे उसको पहिचाना जाय, वह इन्द्रियों का पति सबका कारण है, संसारमें उसका कारण कोई नहीं है ॥ ९ ॥ जो निष्क्रियों का नियन्ता है, एक बीज को अनेकों आकार का करदेता है, उसका आत्मा में दर्शन करनेसे जैसा सुख होता है, उसको ज्ञानी ही जानते हैं और लोग नहीं जानसकते ॥ १२ ॥ वह नित्योंमें सनातन नित्य है, चेतनोंका चेतनस्वरूप है एक ही अनेकों की कामनाओंको पूर्ण करता है वही सब का

कारण है और सांख्ययोगसे जानाजाता है, उसको जानकर भक्त का मन तृप्त होजाता है और ध्यान करनेसे सकल बन्धन टूटजाते हैं।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्म तेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव विहन्यते ॥ २७ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

(मनु० ७ अ०)

राजाके न होनेसे चारों ओर भयसे घबड़ायेहुए इस लोक में रक्षाके लिये ईश्वरने राजाको बनाया ॥३॥ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेरका अंश लेकर विधाताने राजा को रचा ॥ ४ ॥ राजा के हित के लिये ईश्वर ने पहिले, सकल प्राणियोंके रक्षक, धर्मस्वरूप, आत्मज, ब्रह्मतेजोमय दण्डको रचा ॥१४॥ दण्ड सब प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड सबकी रक्षा करता है, सबके सोनेपर दण्ड जागता है, इसीसे पण्डितों ने दण्ड को धर्मका मूल कहा है ॥ १८ ॥ जो दण्डका प्रयोग करना जानता हो, सत्यवादी, विचारशील, परमबुद्धिमान्, वेदवेत्ता और धर्म, काम तथा अर्थके भेदको जानता हो, शास्त्र उसको ही योग्य राजा

कहता है॥२६॥जो राजा विचारके साथ दण्ड देता है उसका,राज्य धर्मार्थ काम से भरापुरा रहता है, जो धूर्त राजा भोगवासनामें लिप्त रहता है और अपने मनको अपने शत्रु क्रोधादिके वशमें होने देता है, वह जो दण्ड देता है वह बड़े बलके साथ उलटा उसके ऊपर ही आकर पड़ता है ॥ २७ ॥महातेजस्वी दण्ड, शास्त्र के ज्ञानसे हीन राजाके धारण करने योग्य नहीं है,क्योंकि–वह अनुचित प्रयुक्त होनेपर राजाका वंशसहित ध्वंस करदेता है ॥२८॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥ १४५ ॥
(महाभारत शान्तिपर्व ७० अ०)

महात्मा नृपति प्रजाओंका प्रसन्न रखकर अपने शासन से भूमिको धर्म से पूर्ण करता है, इसी कारण (रञ्जनात्–राजा) राजा कहता है, ऐसे राजाके दर्शनसे परम पुण्य होता है १४५

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमञ्च ।
समाश्रिता लोकमिमं परञ्च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५६ ॥
नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशाः
त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥ ६० ॥
(महाभारत शान्तिपर्व ६८ अ०)

राजा ही प्रजाओंके हृदय का गुरु, आश्रय, प्रतिष्ठा और परम सुख है, राजा की सहायतासे ही वह समर करके इसलोक और परलोक को सहजमें जीतते हैं ॥ ५६ ॥ राजा सावधान चित्तसे भूमि का शासन करके, दम, सत्य और सौहार्दसे युक्त होकर तथा अश्वमेधादि के द्वारा यजन करके बड़ाभारी यश पाताहुआ स्वर्ग में अमरपद पाता है ॥ ६० ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥
मनु० २ अ०

दश उपाध्यायोंकी समान आचार्यका सन्मान, सौ आचार्यों की समान पिता का सन्मान और पितासे सहस्रगुणा माताका सन्मान करना चाहिये और मातासे अधिक तो कोई है ही नहीं१४५

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ॥ २२६ ॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥
(मनु २ अ०)

आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई का, अत्यन्त पीडित होने पर भी अपमान न करे और ब्राह्मणको विशेष कर इस बात का ध्यान रखना चाहिये ॥२२६॥ इन तीनोंकी शुश्रूषा ही परम तप कहाती है॥ २२६ ॥ यह तीनों ही त्रिलोकी हैं, यह तीनों ही तीन आश्रम हैं, यह तीनों ही वेदत्रयी हैं और यह तीनों ही तीन अग्नि हैं॥ २३० ॥ जिसने इन तीनों का आदर किया उसने सबका आदर करलिया और जिसने इन तीनोंका अनादर किया उसके धर्म कर्म सब वृथा हैं ॥ २३४ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

अवस्था विद्या आदिमें वृद्ध पुरुष के आने पर युवा के प्राण

ऊपर की ओरको आकर बाहर आना चाहते हैं,परन्तु प्रत्युत्थान और अभिवादन आदिके द्वारा वह फिर प्राणोंको पाता है १२०
सदा वृद्धोंकी सेवा और उनको अभिवादन करनेवाले युवाकी आयु, विद्या, यश और बल यह चारों बढ़ते हैं ॥ १२१ ॥

—०—

नवम अध्याय

समान के साथ व्यवहार

अब समान अवस्था वालोंके साथ व्यवहार करनेके विषयकी आलोचना करते हैं। हम अपनी समान अवस्थावाले पुरुषों से निरन्तर हिलते मिलते हैं और घिरे रहते हैं। जिन गुणोंको बढ़ाने से और जिन दोषोंको त्यागने से हम अपने परिवार वालों के साथ या बाहर के मित्रगणों के साथ सुख स्वच्छन्दता से समय बितासकें उसका विचार भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि-इस की सब से पहिले आवश्यकता है। जिसमें निरन्तर पारिवारिक धर्म का पालन होता है वह पवित्र और सुखसे भराहुआ घर ही राज्य के अनुकूल भित्ति है और उसके द्वारा ही जातीय उन्नति होसकती है। पिता माता के साथ पुत्रका कैसा व्यवहार होना चाहिये इसकी आलोचना पहिले ही करचुके हैं। अब पति पत्नी और भाई बहिनों में परस्पर कैसा वर्त्ताव होना चाहिये उसी की आलोचना करते हैं।

हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में पतिपत्नी के दाम्पत्य प्रेमका वर्णन करनेवाली असंख्यों कथा हैं। मनुजीने कहा है-'यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना'। अर्थात् जो पति है वही पत्नी है, वह दोनों मिलकर पूरा एक हैं, प्रेम ही उन दोनों के एकत्व का बनानेवाला है। पति का प्रेम रक्षा करनेवाला, आश्रयदाता और कोमल है,पत्नी

का प्रेम त्यागपूर्ण, मधुर और एक में अनुरक्त है। मनुजीने कहा है कि-'अन्योऽन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः।'अर्थात् उन दोनों का परस्परका विश्वासबन्धन मरणकालतक रहना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी पति पत्नी का पूर्ण आदर्श थे। उन दोनोंने जीवनका सुख दुःख मिलकर भोगा था। वह परस्पर का अभिमत कार्य करते थे,दोनोंको दोनोंके कष्टका अनुभव होता था। पहिली अवस्था में हमने उनको पूर्ण आनन्दमय देखा है, जिस समय श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तयारी होरही थी,उस समय वह दोनों संयम के साथ पूजा आदि में लगेहुए थे। जिस समय वनवास की आज्ञा उनके कानों में पड़ी, उस समय सीता जीने पहिले उस वेदना को अविचलभाव से सहा, क्योंकि-उन को विश्वास था कि श्रीरामचन्द्रजीके वनको जानेपर मैं भी वनको जाऊँगी। जब श्रीरामचन्द्रजीने घर रहने को कहा,तब सीताजी ने कहा था कि-'मेरा हृदय पूर्णरूपसे तुम्हारा ही है, मैं और कुछ नहीं जानती, चिरकाल से तुम्हारा ही आश्रय किया है, यदि छोड़कर चलेजाओगे तो प्राण त्यागदूँगी,वनके कांटे मेरे शरीरको कोमल वस्त्रकी समान मालूम होगे और मार्गकी धूलिको चन्दनकी रजसमान समझूंगी, स्वामी के समीप रहनेमें तिनुकोंका बिछौना भी उत्तम शय्या और फल मूल ही परम प्रीतिदायक परमस्वादु भोजन मालूम होगा। सीताजी श्रीरामचन्द्रजी के साथ में रहने को ही स्वर्गधाम समझती थीं और उनसे अलग होकर रहनेको नरकवास समझती थीं। जिस समय श्रीरामचन्द्रजीने उनसे घर रहने के लिये अनुरोध किया उस समय उनके हृदय में दारुण कष्ट हुआ और जब श्रीरामचन्द्रजीने उनको परम दुःखित देखकर संग चलनेकी आज्ञा दी तब उनके आनन्दकी अवधि नहीं रही, उन्होंने आनन्दके मारे अपने गहने और वस्त्र उतारकर दास

दासियोंको देडाले। साधारण स्त्रियें जिनका बड़ाभारी मोह करती हैं उन सब गहने वस्त्र आदि को अनायास में ही आनन्द के साथ त्यागकर वह वनवासी पतिके संग होगई। वह बालिकाओं की समान वनमें क्रीड़ा करती हुईं चलीजाती थीं, सम्पदा के अभावमें उनके मन पह जरासा भी कष्ट का चिन्ह प्रतीत नहीं होता था। वह रातदिन श्रीरामचन्द्रजीके संग रहती थीं। यद्यपि उनकी अवस्था की चपलता सर्वथा दूर नहीं हुई थी तथापि वह प्रवीणता की भरी हुई थीं, दण्डकारण्यकी सीमामें घूमते समय उन्होंने स्वामी को गंभीर सारगर्भित वाक्यमें सम्मति दीथीं, जिस समय राक्षसराज रावण उनको हरकर लेगया था, उस समय श्रीरामचन्द्रजीने उनको खोजतेहुए कहा था कि--सीते! सीते! तुम कहां हो! क्या छुपरही हो! क्या मेरे साथ परिहास कर रही हो? शीघ्र आओ, तुम्हारी यह क्रीड़ा मुझको मृत्यु की समान प्रतीत होती है। जब श्रीरामचंद्रजी इसप्रकार रुदन करके सीताजीको खोजरहे थे, उस समय रावण सीताजीको पातिव्रत्यसे डिगाने के लिये कभी लोभ और कभी भय दिखाता था, तथा कभी उनके साथ निर्दयीपने का व्यवहार करता था, परन्तु सीता जी की पतिभक्ति अटूट थी, उन्होंने कहा कि—'मैं एक में ही अनुराग करनेवाली हूं, पापमार्ग में पग कभी नहीं रखसकता। धन रत्नों का मुझको लोभ नहीं है। जैसे सूर्य की किरणें ही उसका अपना सर्वस्व हैं, मैं भी तैसे ही श्रीरामचन्द्रजीको अपना सर्वस्व समझती हूं॥

अब सावित्रीकी कथा भी सुनिये। उसने पातिव्रत्यके बलसे मृत्युपति यमराजको परास्त करके मरेहुए पति को फिर जीवित किया था। राजा अश्वपति मद्र देशका स्वामी था, बहुत दिनोंतक देवताकी आराधना करनेपर उसके एक कन्या उत्पन्न हुई, उस कन्याका नाम सावित्री रक्खा। उसके देहका वर्ण सुवर्णकी समान

था, लावण्य खिलीहुई मल्लिका की समान था, प्रजाके लोग उसको देवी समझकर भक्ति करते थे और सत्कार्यके लिये उस के शरणागत हुआ करते थे। जब वह विवाह के योग्य हुई तो उसके पिता ने उस को अपने लिये पति खोजने की आज्ञा दी। सावित्री पिता की आज्ञा से अपनी सखियोंके साथ पतिकी खोज करने के लिये चलदी, वह जब लौटकर आई तो देवर्षि नारदजी उस के पिता के पास आये। उनके सामने सावित्रीने अपने मनसे वरेहुए पतिकी कथा वर्णन की। उसने कहा कि—शाल्व देशके राजा द्युमत्सेन बूढे और अन्धे होगए हैं, इसकारण शत्रुओंने उनका राज्य छीन लिया, इससमय वह स्त्री और पुत्रके साथ मुनियोंके आश्रम में रहते हैं, मैंने उनके पुत्र सत्यवान् को अपने मनमें पतिरूप से वर लिया है। यह सुनते ही नारदजी कहनेलगे, कि–सावित्री! तुमने अच्छा नहीं किया। राजाने बूझा कि–क्या सत्यवान् सावित्रीके योग्य नहीं है! उसका शरीर क्या रोगी है? या उसके मनमें बल नहीं है? या उसमें क्षमागुण नहीं है? अथवा उसमें क्षत्रियों केसा साहस नहीं है? नारदजीने कहा--उसमें शूरता, वीरता क्षमा, प्रवीणता आदि किसी गुणकी कमी नहीं है। सत्यवान् सूर्यकी समान दमकतेहुए शरीरवाला, रन्तिदेवकी समान दयालु राजा शिवि की समान न्यायपरायण, ययातिकी समान महान् और पूर्ण चन्द्रमाकी समान सुन्दर है। परन्तु यह सब गुण एक वर्षके बाद भूतल से बिदा होजायँगे सत्यवान् के जीवन का समय बहुत ही थोड़ा है। सावित्री देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर मनमें दुःखी हुई, परन्तु कहने लगी कि–"सकृदाह ददानीति,, अर्थात् 'देदिया' यह बात एक ही बार कही जासकती है, मैं एकवार कहचुकी हूं कि–मैंने सत्यवानको आत्मदान दिया, इसलिये अब दूसरे पति को स्वीकार नहीं करसकती। नारदजी

ने कहा कि-जब तुम्हारी कन्या इतनेपर भी अपने सङ्कल्पसे नहीं डिगती है तो मैं आशीर्वाद देता हूं कि-यह इस विवाह से ही सुख पावेगी।

उसी समय द्युमत्सेन के आश्रम को दूत भेजागया, उन्होंने राजा अश्वपति को प्रत्युत्तर कहला भेजा कि-मैं आपके यहां सम्बन्ध करना चिरकाल से चाहता था, केवल अपना प्रारब्ध विपरीत होजाने के कारण इससमय उस इच्छा को प्रकाशित नहीं करसकता था। इससमय सावित्री अपनी इच्छासे आती है, इससे मैं समझगया कि-निःसन्देह अब लक्ष्मी मेरे ऊपर प्रसन्न है। विवाह होगया, सावित्री राजमहलको छोडकर वनकी कुटी में रहकर बूढ़े सास ससुरेकी तन, मन और वाणीसे सेवा करनेलगी। घरके सब कामोंको आनन्दके साथ अपने हाथोंसे करना प्रारम्भ करदिया और अपने मधुरस्वभावके गुणसे पतिके मन को खेंचलिया, परन्तु उसके मनमें रातदिन वह खोटे दिनकी बात जागती रहती थी। वह बराबर दिन गिननेलगी होते २ सत्यवान् की मृत्यु का दिन निकट आपहुंचा। और चार दिन बाकी रह गये इस समय तीन दिनका उपवास करके सावित्री देवता की आराधना करनेलगी। अन्न जलको छोड़ेहुए उसको तीन रात दिन बीतगए। चौथे दिन प्रातःकाल ही उठी और नित्यनियमसे निवटकर गुरुजनोंके चरणोंको प्रणाम किया। उस वनके निवासी सब ही महर्षियोंने उसको आशीर्वाद दिया कि-तू सदा सौभाग्य वती रहेगी, कभी विधवा नहीं होगी। जब सत्यवान् का जंगल से काठ लानेका समय हुआ तब सावित्री भी उसके पीछे २ गई सत्यवान्ने अचंभे में होकर बूझा कि-तू कहां जायगी! सावित्री ने उत्तर दिया कि-आज तुम्हारे साथ ही जानेको मेराजी चाहता है। तब वह दोनों जने, पर्वत, नदी, और वनकी शोभा देखते २ वनमें विहार करने वाले पशुपक्षियोंको देखते हुए एक वनमें पहुंचे

सत्यवान् ने अपने नित्यके कामका आरम्भ किया, वन के फल इकट्ठे करके काठ इकट्ठा करनेलगा, उसी समय एकसाथ उसका शरीर सुन्नसा होगया, शिरमें बडाभारी दर्द होकर बराबर बढने लगा, तब वह शिरमें दर्दकी बात कहते २ सोगया, सावित्री उस का शिर अपनी गोदीमें रखकर बैठगई और बिदीर्ण हुए अन्तः-करणसे उस कालमुहूर्त्त के आनेकी प्रतीक्षा करने लगी। अचा-नक देखा कि-एक लाल वस्त्रधारी भयानकमूर्त्ति पुरुष तहां आकर खडा है। उसको सत्यवान् की ओर दृष्टि डालते देखकर सावित्री ने धीरे २ पति का मस्तक भूतल पर रखदिया और प्रणाम करके खड़ी होगई। तब वह मूर्त्ति कहने लगी कि-सत्यवान् का जीवन-काल समाप्त होगया है। मैं मृत्युपति यमराज हूं, सत्यवान् बडा धार्मिक था, इसकारण दूतों को न भेजकर मैं अपने आप आया हूं। इतना कहकर सत्यवान्के स्थूल शरीर में से सूक्ष्मशरीर को लेकर दक्षिण दिशाकी ओरको चलने लगे सावित्री भी उनके पीछे २ चलने लगी। यमराजने कहा सावित्री! धीरज धरो और लौटकर सत्यवान्की प्रेतक्रिया करो, तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा होगया, मनुष्य जितनी दूरतक जासकता है, तू उतनी दूरतक स्वामीके पीछे २ आई, अब लौटजा। यह सुनकर सावित्री ने कहा कि-मेरे स्वामी जिस समय जहां रहैं, उस समय मुझको भी तहां ही रहना चाहिये, यह ही पति और पत्नीका नित्य सम्बन्ध है यदि मैंने शरीर, मन और वाणीसे अपने पति की सेवा भक्ति करी है, तो मेरा वह सम्बन्ध टूटना नहीं चाहिये। यदि मैंने सब प्रकारसे गुरुजनों की पूजा की है, यदि व्रत उपासना आदि का कुछ फल है, तो आप की कृपासे मेरी गति कहीं नहीं रुकसकती मैं निःसन्देह स्वामीके साथ जासकती हूं, इस प्रकार वह बालक की समान अपने धर्म की शिक्षा की आवृत्ति करने लगी। दृढ विश्वासके साथ गृहस्थधर्म का पालन करने से ज्ञान और धर्म

का फल मिलता है, हे मृत्युपति मेरा मार्ग रोककर उन सब फलों के पानेसे मुझको वञ्चित न करना। यमराजने कहा कि—तू ज्ञानवती और सत् असत् का विचार करने वाली है, तेरी बातें बडी ही मीठी हैं। उनको सुनकर मैं प्रसन्न होगया, तू अपने पति के जीवनके सिवाय और वर मांगले। सावित्रीने कहा मेरे सुसुर अन्धे हैं, आपकी कृपासे उनके नेत्र होजायं यमने कहा हे सर्व-सुलक्षणे! मैंने तेरी अभिलाषा पूरीकी, अब तू लौटजा। सावित्री ने कहा जहां स्वामी जायंगे मुझको भी तहां ही जाना चाहिये, सत्संगसे सदा श्रेष्ठ फल मिलता है, हे मृत्युपते! आपकी समान सत्पुरुष और कौन होगा? मैं यदि आपके साथ २ अपने पतिकी अनुगामिनी होती हूं तो इसका परिणाम अशुभ नहीं होसकता। यमराजने कहा अपने पतिके जीवनके सिवाय तुझको और जो कुछ चाहिये सो मांगले। सावित्रीने कहा, मेरे ससुरका राज्य शत्रुओंने छीनलिया है वह आपकी कृपा से मिलजाय। यमने कहा अच्छा वह राज्य पाजायंगे, जा अब घरको लौटजा, अब हमारे पीछे२ आना छोड दे। परंतु सावित्री मीठे वाक्योंसे उनकी प्रशंसा करती हुई फिर भी उनके पीछे ही चलने लगी और उनसे अपने पिता के तथा अपने भी सौ पुत्र होने का वरदान मांगलिया। जब चौथा वरदान मिलगया, तब धर्ममार्ग में स्थित रहकर सौ पुत्र उत्पन्न करनेके विषय में वह जो कुछ जानती थी, उसको स्पष्ट निवेदन करके यमराज से स्वामी का जीवन भी पालिया, क्योंकि—स्वामी को फिर लेजाये विना धर्ममार्गमें स्थित रहकर उसको सन्तानकी प्राप्ति नही होसकती थी। इसप्रकार पतिव्रता नारी ने यमराज से अपने पति को छुडाया भगवान् ने दिखादिया कि—पतिव्रता के तेज के सामने यमराज भी हतबुद्धि होजाते हैं।

हिन्दुओंके बालक राजा नल की पत्नी दमयन्तीकी कथा को भी कभी न भूलें। नल वीरसेन का पुत्र निषधदेश का राजा था, वह नेत्रों से विना देखेही विदर्भराज भीमसेन की कन्या दमयन्ती को प्रेम करनेलगा था, तैसे ही दमयन्ती को भी पहिले सेही नलका अनुराग था, स्वयम्वर के समय इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम और सकल राजाओंके सामने दमयन्तीने राजा नलको ही पतिमानकर वरा। विवाह के बाद ग्यारह वर्षतक उन्होंने राजसुख भोगा। उसी समय उनके एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। बारहवें वर्ष उन के भाई पुष्कर ने उनको चौसर खेलने के लिये बुलाया। इस खेल में राजानल अपनी धनसम्पत्ति और राज्यसिंहासन तक हारगये और एक धोती पहिरेहुए ही राज्य को त्यागना पड़ा, दमयन्ती अपनी दोनों सन्तानों को पिता के यहां भेजकर एक साड़ी पहिरे हुए ही राजानल के पीछे २ चलदी, वह भूँख से घवड़ायेहुए राज्य से बाहर घूमने लगे। एक दिन नल, वस्त्र से पक्षियों को पकड़ने का उद्योग कररहे थे, सो पक्षी उस वस्त्र को भी लेकर उड़गये, तब दोनों एक ही वस्त्र को पहिरेहुए घूमनेलगे। नलने अनेकों वार दमयन्ती से पिता के घर जाने का अनुरोध किया, परन्तु दमयन्ती छोडकर जानेको राजी नहीं हुई। इसप्रकार घूमते घूमते एकदिन दमयन्ती थककर वृक्ष के नीचे सोगई। तब राजा नल अपने मनमें तर्क वितर्क करने लगे कि—यदि मैं दमयन्ती को छोड़कर चलाजाऊँगा तो अवश्य ही यह अपने पिता के यहां चली जायगी, इसमें इसको फिर कष्ट नहीं उठाना पडेगा ऐसा विचार अपनी तलवार से उस धोतीको वीचमें से काटकर आधे से दमयन्ती के शरीर को ढकदिया और दूसरे आधे से अपने शरीर को ढककर दुःख से उन्मत्त हुए से चल दिये। दमयन्ती ने निद्रा दूर होनेपर जब देखा कि—स्वामी नहीं हैं, तब उसके दुःख का ठिकाना न रहा, वह, अपने कष्ट की अपेक्षा स्वामीको जाने कितना कष्ट होता होगा, यह विचारकर बड़ी व्याकुल हो स्वामी को ढूंढनेलगी, परन्तु उनको कहीं नहीं पाया। घूमते २

एक भयानक अजगर ने दमयन्ती के ऊपर आक्रमण किया, वह इस विपत्तिसे तथा और भी बहुतसी बिपत्तियोंसे किसी न किसी प्रकार रक्षा पाकर अन्तको चेदिराजकुमारीके आश्रममें पहुंच गई। इसका विस्तारके साथ वर्णन महाभारत वनपर्व के नलोपाख्यान में है। इधर नल एक सर्प की अग्नि से रक्षा करके उसकी सहायता से अपनी सूरत को बदलकर अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहां सारथी का काम करने लगे। इसप्रकार पति पत्नी दोनों अलग२ होगये इधर राजा भीमसेनने अपनी कन्या और जमाईको खोजनेके लिये चारों ओर ब्राह्मण दूत भेजे। उनमेंसे सुदेव नामक ब्राह्मणने चेदिराज के अनुग्रह से दमयन्ती को साक्षात् पाया तब हाल खुला कि–चेदिराजकुमारी की माता दमयन्ती की माताकी बहिन है। तदनन्तर दमयन्ती पिता के घर आई। नल को ढँढने के लिये फिरचारों ओर दूत भेजेगये दमयन्ताने दूतों को ऐसी एक बात प्रसिद्ध करना सिखादिया कि—जिसको नल ही समभसकैं, उसमें नलसे फिर लौट आकर दमयन्ती को दर्शन देने का अनुरोध कियागया था। दूत अनेकों देशों में ढँढते फिरे अन्त को एक दूतने अयोध्या में पहुंचकर वह दमयन्ती की बताई हुई बात प्रसिद्ध करदी उस बातको सुनते ही अयोध्यापति ऋतुपर्ण के सारथी ने बड़ा दुःख प्रकाशित किया उस पर्णाद नामक दूत ने आकर ज्यों ही दमयन्ती को यह समाचार सुनाया तत्काल उस सारथिको पहिचानलिया कि–यही नल हैं, बस उसी समय उनको विदर्भ देश में लानेके लिये दमयन्ती उपाय सोचने लगी दमयन्तीने फिर उस ब्राह्मण को भेजकर अयोध्या में यह बात प्रसिद्ध करादी कि—कल को ही दमयन्ती का स्वयंवर होगा। दमयन्ती जानती थी कि–अयोध्या से चल कर फिर एक ही दिन में विदर्भ में पहुंचना एक नल के सिवाय दूसरे की शक्तिसे बाहर है, दमयन्तीने जो कुछ मनमें विचारा था वह

ही हुआ। ऋतुपर्ण की आज्ञासे सारथि योग्य घोड़े जोत सांझ ही को विदर्भमें आपहुंचा परन्तु स्वयंवर कहां! यह सब प्रसिद्धि तो झूठी ही कराई गई थी, केवल दमयन्ती की चतुराईसे राजा नल शीघ्रही विदर्भ में आपहुंचे। नलने दमयन्तीकी चतुराई से अपने को प्रकाशित करदिया और अपने पुत्र कन्या को देखकर रोउठे अन्तको पति पत्नीका फिर मिलन हुआ। तदनन्तर वह दोनों फिर राज्य पाकर परमसुखके साथ समयको विताने लगे।

जो स्त्री सच्चे पातिव्रत्य का अवलम्बन करके पतिकी सेवामें समय को विताती है, उसकी मानसिक उन्नति और ज्ञान की वृद्धि होती है, वह विना श्रम किये ही तपस्या का फल पाजाती है क्योंक–हमारे पुराणों में ऐसी एक स्त्रीके ऊपर कौशिक के कोप का वर्णन है।

पहिले समय में एक कौशिक नामक ब्राह्मण ने बड़ीभारी तपस्या की थी, एक दिन वह एक वृक्ष के नीचे बैठेहुए ध्यान कररहे थे, इतने हीमें एक बगले ने उनके शिर पर बीट करदी। तपस्या करने से कौशिक का इतना तेज इकट्ठा होगया था कि उन्होंने क्रोध में भरकर ज्यों ही बगले की ओर को देखा कि–उसी समय वह बगला भस्म होगया। कौशिक बगले की मृत्यु से दुःखित और अपने तेज का प्रभाव देखकर आनन्दित हुए। तदनन्तर वह एक दिन समीप के ही नगर में भिक्षा के लिये गए और एक गृहस्थ के यहां जाकर उन्होंने उस घर की मालिकनी से भिक्षा माँगी, वह उनके लिये भिक्षा लेने को जातीथी, इतने ही में उसके स्वामी थके और धूलि से अटे हुए घर में आये। इसलिये वह कौशिक से जरा ठहरने को कहकर अपने स्वामी की सेवा में लगगई। अधिक विलम्ब होता देखकर कौशिक को क्रोध आगया। अन्त को जब वह पतिव्रता भिक्षा लेकर आई तब ब्राह्मण क्रोधभरी दृष्टि से उसकी ओरको देखनेलगे और कहा कि–मैं

ब्राह्मण हूं,मेरा तिरस्कार करके इतना विलम्ब क्यों किया ? पतिव्रता कोमलता के साथ बोली कि-हे विप्र ! मैं पतिव्रता हूं, स्वामी की सेवा करना ही मेरा मुख्य और प्रथम कर्त्तव्य है, आप निष्कारण क्रोध को त्यागकर क्षमा करिये । मेरी ओर को क्रोध की दृष्टि से न देखिये, इसमें आप का ही अनिष्ट होगा मैं बगला नहीं हूं । इतना सुनते ही कौशिक चौंकउठे और उससे इस परोक्षज्ञान (विनादेखी बात को जानलेने) का कारण बूझनेलगे, पतिव्रता कहनेलगी कि-मैंने तपस्या करके शक्ति नहीं पाई है, केवल अनन्य मन से पति की सेवा करना ही मेरा जप तप है । यदि तुम गृहस्थ के कर्त्तव्य कर्मयोग के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो शीघ्र ही मिथिला नगरी में जाकर धर्मव्याध से मिलो । कौशिक उसीसमय मिथिलाकी ओर को चलदिये,तहां जाकर देखा कि-व्याध मांस खरीदने वेचनेके काममें लगाहुआ है वह कौशिक को देखते ही खडा होगया और प्रणाम करके कहने लगा कि-आइये महाराज ! मैं समझगया, उस पतिव्रता स्त्री ने आप को मेरे पास भेजा है । मैं आपके सब संदेहों को दूर करदूँ गा और किस उपाय से मैंने यह शक्ति पाई है सो भी आपको दिखाऊँगा, तदनन्तर वह व्याध कौशिक को अपने माता पिता के पास लेगया, इस कथा को पहिले लिखहीं चुके हैं ।

भ्राता के साथ भ्राता के व्यवहार का वृत्तान्त रामायण में वर्णित है । लक्ष्मण रामचन्द्रजी के जीवनस्वरूप थे । वह दानों एकत्र शयन और एकत्रही क्रीडा करते थे, एक दूसरे को क्षणमात्र को भी विना देखे नहीं रहसकते थे। लक्ष्मण रामचन्द्रजी के साथ वनवासमें भी निद्रा न लेकर उनके पहरेदारका काम किया करते थे। सीताजी को ढूँढते समय उनके दुःखसे दुःखी होकर साथर घूमते फिरे थे जिस समय लङ्का की रणभूमिमें लक्ष्मण मूर्छित हुए उस समय रामचन्द्रजी ने व्याकुल होकर विलाप करते हुए

कहा था कि-यदि लक्ष्मण रण में मूर्छित होकर गिरपड़े तो अब युद्धकी या जीवन धारण करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? भाई ! तुम मुझ को छोडकर आगे ही स्वर्ग को क्यों चलेगये ! तुम्हारे विना जीवन विजयलक्ष्मी और यहांतक कि-मुझको जानकी भी निष्प्रयोजन प्रतीत होतीं है ।

भ्राताओं के साथ प्रेम और मेल होने से यश और सम्पत्ति मिलती है, सम्पूर्ण महाभारतमें इसका स्पष्टप्रमाण देखनेमें आता है हमने कहीं ऐसा लिखा नहीं देखा कि-पांडवोंने एक दिनको भी स्वतन्त्रता का अवलम्बन किया हो, युधिष्ठिर ही वंशके आधारथे सब छोटे भाई उनकी ही धनसंपदा को बढानेके लिये उद्योग करते रहते थे। उनके लिये ही सबने युद्ध किया था और उनके लिये ही धन इकट्ठा किया था । अर्जुन की कठोर तपस्या और अतिकठोर युद्धके द्वारा दिव्य अस्त्रकी प्राप्तिभी उन्हींके लिये हुई थी उधर युधिष्ठिर भी भ्राताओंके सुख तथा स्वाधीनताके लिये ही अतिव्यस्त रहते थे ।

युधिष्ठिर स्वर्गमें जाकर भी भाइयों के लिये व्याकुल होउठे और कहा कि-जहां मेरे भाई है, मैं भी तहां ही जाऊंगा उन्होंने देवलोकमें भ्राताओंको न देखकर कहा था कि-भ्राताओंके विना मुझ स्वर्ग भीसुख नहीं देता है, जहां भाई हैं तहां ही मेरा स्वर्ग है, अन्त में देवताओंने दूतके साथ उनको उनके भ्राताओं के पास भेजा । स्वार्थको त्यागकर उन्होंने दूतके साथ अन्धकारमें प्रवेश किया । क्रम से आकाश और मार्ग भी अन्धकारसे आच्छन्न हो गया । दुर्गन्धित वस्तु भयानक आकार खांखड़ों से भरे तथा रुधिरसे भीगे मार्गोंको लांघनेलगे । तीखे कांटे और कटीले पत्ते उनकी गतिको रोकनेलगे । अत्यन्त तपीहुई रेती और पत्थर पैरोंको जलानेलगे । राजा युधिष्ठिरने अचरज में होकर दूत से बूझा कि-यहाँ कहा लेआया ?, देवदूतने उत्तर दिया कि-मुझे

आप को यहां लानेके लिये ही आज्ञा मिली है, यदि आप की इच्छा न हो तो आप लौटकर चलसकते हैं। उन्होंने मनमें विचारा कि—मेरे भ्राता ऐसे स्थानमें रहनेके योग्य नहीं हैं और तहां से लौटना चाहतेथे कि—इतने ही में अनेकों दुःखितों का कोलाहल उनके कानों में प्रविष्ट होनेलगा, उसी समय पुकारकर कहा कि—तुम कौन हो! वह चारोंओर से उत्तर देनेलगे कि—मैं कर्ण हूं, मैं भीम हू, मैं अर्जुन हूं, मैं नकुल हूं, मैं सहदेव हूं, मैं द्रौपदी हूं, हम द्रौपदीके पुत्र हैं। यह सुनते ही राजा युधिष्ठिरने देवदूत से कहा कि-तुम जिनके दूत हो, उनके ही पासको लौट जाओ, मैं तहां नहीं आऊंगा, यहाँ ही रहूंगा, उन से निवेदन करदेना कि-जहां मेरे भ्राता हैं तहां ही मेरा स्वर्ग है। उसी समय चारों दिशा दिव्य गन्धसे महक उठीं चारों ओरसे दिव्य सुगंधित पवन आने लगा एक साथ प्रकाश होगया और चारों ओरसे देवताओंने आकर युधिष्ठिरको घेरलिया क्योंकि-नरककी अपेक्षा प्रेमकी शक्ति बहुत बडी है, यातना प्रेमके सामने मस्तक नमातीहै

परिवारसे बाहर दिखाने योग्य प्रधान गुण दयाहै, भारतवासी सनातन आर्यपुरुष इस गुणके कितने पक्षपाती थे, यह बात नकुलोपाख्यानके पढ़नेसे मालूम होती है। एक नकुलने अपनी इच्छा से राजा युधिष्ठिरकी सभामें आकर देखा कि-वन्दनवार, यूप (खंभे) और यज्ञके पात्र सब सुवर्णके बनेहुए हैं, और जो आता है वह अपनी इच्छानुसार धन रत्नादि पाता है, किसी से निषेध नहीं किया जाता है, नकुलने कहा कि-इस यज्ञमें इतना बडाभारी समारोह होनेपर भी यह दरिद्र ब्राह्मणके सक्तुदान(सत्तुओंका दान करने) से बढ़कर पुण्यदायक नहीं है। इतना कहकर उसने दरिद्र ब्राह्मणके सक्तुदान की कथा सुनाई। कोई दरिद्र ब्राह्मण कण २ बीनकर उञ्छवृत्तिसे इकट्ठे करेहु (अन्नके द्वारा बडे कष्टसे स्त्री पुत्र बन्धु और अपने प्राणोंकी रक्षा किया करता था। एकसमय भया-

नक अकाल पडनेपर किसानलोग खेत में बहुत थोड़े कण छोडने लगे क्योंकि-उससमय भूमि तृणहीन होगई थी अन्न भी उत्पन्न नहीं होता था इसकारण वह परिवार सहित दिन२ क्षीण होनेलगा एक दिन बड़े कष्ट से थोडेसे जौ बीनकर लाया था, उनको पीसकर उसकी ब्राह्मणीने चार भाग किये, उसको सब भोजन करना चाहते थे, इतने ही में द्वारपर एक अतिथि आपहुंचा, ब्राह्मणने उसीसमय उठकर उस को बैठनेके लिये आसन और पीने को जल देकर अपना भाग भोजनके लिये दिया अतिथिने उसको खा तो लिया परन्तु भूंख शांत नहीं हुई, यह देख ब्राह्मणीने अपना भाग लाकर अतिथि को देनेके लिये पतिसे कहा, ब्राह्मणने कहा-तू दुर्बल होरही है, तेरा देह खडा तक नहीं होसकता, देख थर २ कांपरही है, तू अपना भोजन और जल रहने दे। तेरा प्राणांत होनेसे इस गृहस्थ का नाश होजायगा, परन्तु स्त्रीके अधिक हठ करने पर ब्राह्मणको उसका अंश भी अतिथिके अर्पण करना पडा, परन्तु तब भी अतिथिकी भूंख दूर नहीं हुई। तब ब्राह्मणके पुत्रने अपना भाग लाकर दिया, परन्तु उससे भी अतिथिकी भूंख दूर नहीं हुई, यह देख ब्राह्मणकी पुत्रवधूने भी अपना भाग लाकर दिया, परंतु बालिकाका अंश लेकर अतिथिको देतेमें ब्राह्मणको बडा कष्ट हुआ पुत्रवधूने कहा-मुझको अतिथिसेवारूप धर्मका पालन करने से न रोकिये. अतिथिसेवा परमधर्म है, अतिथिको अपने शरीरका मांस स्वरूप यह भोजन देकर प्रसन्न करिये। ब्राह्मणसे पुत्रवधू का ऐसा आग्रह देखकर उसका भाग भी लेकर अतिथिके सामने रखदिया। अतिथिने उसको भी लेकर खालिया। तदनंतर जब अतिथि उठकर खड़ा हुआ तब उसके शरीरमें से किरणें निकल कर चारों ओरको फैलनेलगीं, सबने देखा कि-सामने धर्मराज खडे हैं। नकुल कहनेलगा कि-अतिथिके भोजनके पात्रमें जो कुछ जूठनके कण लगे रहगये थे, उनपर मैं लोटा तो मेरा आधा शरीर

सोनेका होगया। दयाके गुणसे साधारण जौ के कणोंमें भी ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न होगई थी।

एक समय एक लुब्धक वनमें जाकर बडीभारी आंधीके तोफान में फंसगया। प्रवल वृष्टि होनेके कारण सब मार्ग घाट जलसे भर कर मानो नदी नद बनगए, ऊंची भूमियों पर रीछ शेर आदि हिंसक जंतुओंने जाकर आश्रय पाया। शीत और भयसे कंपायमान होकर भी वह अपने निष्ठर स्वभावको न भूला, दूर पर एक कबूतरीको पडीहुई देखकर पकडलाया और उसको निर्दयीपनेके साथ अपने पींजरेमें वन्द करलिया, फिर वह व्याधा घूमता२ एक बडेभारी वृक्षके पास पहुंचा, उसकी शाखाओं पर अनेकों पक्षी रहते थे। इस वृक्षको जगदीश्वरने अनेकों जीवोंका आश्रय कल्पना करके इस स्थान पर स्थापित किया था। व्याधने उसीके नीचे जाकर डेरा लगाया धीरे २ मेघमंडल अन्तर्धान हुआ, आकाश साफ होगया, अनेकों तारे चमकने लगे। परन्तु व्याधेका निवास स्थान बहुत दूर था, इसकारण उसने इस रात्रिके समय घरको लौटना नहीं चाहा, उसने उस वृक्षके नीचे ही रात्रिको विताने का विचार किया। व्याधेने वृक्षके नीचे शयन करके सुना कि-कपोत दुःखित होकर कहरहा है कि-हा प्रिये! तू कहां है ? अभी तक लौटकर क्यों नहीं आई! न जाने तेरे ऊपर कौनसी विपत्ति पडी है। हाय यदि मेरी कबूतरी नहीं आई तो मेरा भी जीवन धारण करना वृथा है, घर घर नहीं है, किन्तु स्त्री ही घर है, हाय मैं खालेता था तब वह आहार करती थी, मेरे साथ स्नान करती थी, मेरे आनन्द में आनन्द मनाती थी और मेरे दुःखमें दुःखित होती थी, यदि मैं किसी कारणसे क्रुद्ध होता था तो वह मीठी २ वातोंसे मेरी क्रोधाग्नि को शांत करदेती थी। ऐसी स्त्रीके विना मुझको अपना जीवन सूनासा प्रतीत होता है। ऐसी स्त्री ही धर्मादि कार्योंमें विश्वासके योग्य सहचरी होती है, ऐसी पत्नी ही पति

की बहुमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी पत्नी ही जीवनके सकल व्यापारों में योग्य साथ देनेवाली होती है। ऐसी पत्नी ही सकल प्रकार की मानसिक व्याधियोंकी बडीभारी औषधि है। पत्नीकी समान बन्धु नहीं है, पत्नीकी समान आश्रय नहीं है।

कबूतरके कातर वचनोंको सुनकर पिंजरेमें वन्द कबूतरी कहनेलगी कि-आज पिंजरे में वन्द होकर भी स्वामी के मन के भाव को जानकर मैं अपने को परमसुखी मानती हूं। जिसके ऊपर स्वामी प्रसन्न नहीं वह पत्नी पत्नी ही नहींहै। परन्तु हमको इस व्याधेके विषयमें विचार करना चाहिये यह बड़ी भारी आंधी के कारण आज लौटकर घरको नहीं जासका है। यह इस समय हमारा अतिथि (महिमान) है, क्योंकि-हमारे वसने के वृक्ष के तले ही आकर ठहरा है। यह सुनकर कबूतर मीठे शब्दों में व्याध से प्रार्थना करके कहने लगा कि-आप हमारे यहां अतिथि रूप में आये हैं, कहिये इस समय आपकी किस आज्ञा का पालन करूं ?। व्याधे ने कहा-शीत के मारे मेरा शरीर ऐंठा जाता है यदि होसके तो किसी प्रकार मेरे तापने का प्रबन्ध करदो। कबूतर ने उसी समय चोंचसे तिनुके पत्ते इकट्ठे करके और समीपके ग्राम में से अग्निकी चिनगारी लाकर अग्नि बालदी। व्याधे ने उस अग्निसे तापकर स्वस्थ होनेपर भोजन करने की इच्छा प्रकट की, तब कबूतरने विचारा कि-कुछ इकट्ठा कराहुआ भोजन तो है नहीं और भूँखा अतिथि विना भोजन करे रहै यह भी उचित नहीं है। ऐसा विचार कर कबूतर ने तीनबार अग्निकी प्रदक्षिणा करके अग्निमें देह त्याग करतेसमय कहा कि हे व्याधे। तू मेरे भुनेहुए मांस से भूँख को दूर कर।

इस अलौकिक दया के कार्यको देखकर व्याधे के मनमें अपने पहिले करेहुए पापों के कारण बड़ी वेदना हुई, उसका दुष्ट स्वभाव दूर होगया। वह कहनेलगा कि-पक्षी! तू मेरा गुरू है, तूने

मुझको मेरा कर्त्तव्य सिखाया है। आजसे मैं पापमार्गमें चरण नहीं रक्खूंगा, किन्तु पापका प्रायश्चित्त करूँगा। अब पापके आहारसे उदरको न भरूंगा। किन्तु अन्न जलको त्याग करके शरीरका सुखा डालूंगा, आजसे धर्ममार्गका ही आश्रय करूंगा। ऐसा कहकर उसने अपनी लाठी, जाल और पिंजरा तहां ही फेंक दिया, कबूतरीको पींजरे से निकालकर छोड़ दिया, कबूतरीने भी सातवार अग्निकी परिक्रमा करके शरीरको त्यागदिया, देह त्यागते समय उसने कहा कि–मातापिता कन्याको नित्य बहुत कुछ देते हैं, परन्तु वह पति के प्रेम की समान नहीं है। पति ही पत्नी को अपना सर्वस्व देता है, अपना तन, मन, धन सब देदेता है, ऐसे पतिके साथ चिरकाल एकत्र रहकर अब उसके विना अकेले जीना नरक समान है

व्याधेको इन सब बातोंके होतेही होते दिव्य दृष्टि प्राप्त होगई, उसने देखा कि–कबूतर और कबूतरी दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गको जारहे हैं, उसी दिनसे वह व्याधा तपस्वियों के बर्त्तावसे रहने लगा, कुछ दिनों के अनन्तर वनकी अग्निसे उसका शरीर भस्म होनेपर साथ ही में उसके पापों का समूह भी उस कठोर तपस्या के प्रताप से ध्वंस होगया।

क्षमा दूसरा गुण है। श्रीरामचन्द्रजीके विषय में लिखाहैं कि-सौ अपराध करनेपर भी अपराधीके ऊपर उनके मनमें मैल नहीं आता था। परन्तु एक भी उपकारकी बात उनके मनमें सोनेके अक्षरोंसे लिखजाती थी। अब विदुरजीकी कथा भी सुनो वह जैसे अपमानको भूलकर क्षमा करते थे उसकी तुलना नहीं है। धृतराष्ट्र ने विदुरजी से बूझा कि—दुर्योधनके विषय में क्या करना चाहिये। विदुरजीने कहा कि–दुर्योधनसे कहिये कि–वह पाण्डवों के साथ मित्रभावसे वर्त्ताव करताहुआ समयको बितावे और जिन्होंने दुर्योधनको पाण्डवोंके साथ अनुचित व्यवहार करनेमें सहायता दी है, वह भी पाण्डवोंसे क्षमा मांगें, ऐसा होनेसे सब उपद्रव

शान्त होजायगा। इस बातसे बुरा मानकर धृतराष्ट्रने विदुरजीको बहुतसे कटु वचन कहे और उनको पक्षपाती तथा अकृतज्ञ कहकर अपने सामनेसे चलेजानेको कहा था। इस कारण विदुरजी पाण्डवोंके पास वनमें चलेगए और युधिष्ठिरको अपने अपमानकी कहानी सुनाई तथा अनेकों उपदेशके वाक्योंसे उनको कर्त्तव्यकी शिक्षा देनेलगे। इधर विदुरजीको निकालकर धृतराष्ट्र के मनमें बड़ा कष्ट होनेलगा और अपना अन्याय समझकर सञ्जयसे कहा कि–हे सञ्जय! मैंने निष्कारण ही भाईका अपमान किया है, जरा जाकर पता तो लगाओ वह जीवित हैं यह नहीं ? जाओ शीघ्र ही उनको ढूंढकर मेरे पास लेआओ। संजय चले तो गए परन्तु विदुर लौटकर आजायँगे, यह उनके चित्त को निश्चय नहीं हुआ। उन्होंने वनमें जाकर विदुरजी का पाण्डवों के पास सन्मान के साथ समय बिताते देखा। सञ्जयके धृतराष्ट्र की आज्ञा सुनाते ही विदुर जी उठखड़ेहुए और पाण्डवों से विदा होकर शीघ्रही बड़ेभाई के पास आपहुंचे। जब धृतराष्ट्र क्षमा मांगनेलगे तब विदुरजीने कहा कि मुझसे क्षमा मांगनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है, आप मेरे बड़े भ्राता और गुरु होने के कारण मुझ से सन्मान पाने के योग्य हैं, आपकी आज्ञा पाते ही मैं तत्काल चलाआया हूं, आपका दर्शन न मिलने से मुझको बड़ा कष्ट होता था। मैं जो पाण्डवों के ऊपर स्नेह करता हूं, उसका यह कारण है कि–वह बड़ी दुर्दशा में पड़े हैं। तुम्हारे पुत्र मुझको बड़े ही प्रिय हैं, परन्तु पाण्डवों के कष्ट को देखकर भी मेरीछाती दलहती है, इसप्रकार छोटे भाई बड़ेभाई के तिरस्कार के वाक्योंको भूलकर उनके पासको फिर लौट आये।

भद्रता (सज्जनता) प्राचीन हिन्दुओंके जीवनका एक प्रधान गुण है, पुराने ग्रन्थों में हम महान् पुरुषों के वाक्य और कार्य में एकसी भद्रता देखते हैं। वह भला हो या बुरा हो शत्रु हो चाहे मित्र हो सकल अतिथियों के साथ एकसमान सज्जनताका व्यव-

हार करते थे। श्रीरामचन्द्रजी का बोलना बड़ा ही कोमल था, वह सदा मुसकुराते हुए बात किया करते थे। सम्पदा की अधीश्वरी भगवती महालक्ष्मी ने किसी समय दानवों के विषय में कहा था कि–वह बड़े ही मधुरभाषी हैं, सब के साथ बन्धुभाव से व्यवहार करते हैं और उनमें क्षमागुणभी पूरा २ है, इन सब गुणों के कारण ही मैं उनके घरमें बसती हूं। परन्तु जिससमय वह क्रोधके वशमें होकर अनीतिका आचरण करने लगते हैं उसीसमय आशा, विश्वास, ज्ञान, सन्तोष, जय, उन्नति और क्षमा को साथलेकर उनको छोड़जाती हूं। नारदजी भी मीठा बोलनेवाले, उदारचित्त और स्पष्टवक्ता तथा क्रोध लोभ से शून्य थे। इसीकारण सर्वत्र सब उनको श्रद्धा भक्ति के साथ प्रेम करते थे। भीष्मदेव ने कहा था कि–दृष्टि से वाणी से वा मनके विचार से भी दूसरे की हीनता पर ध्यान न देना चाहिये। किसी की बुराई करना भी ठीक नहीं है, किसी को भी बुरा लगनेवाला आचरण वा अपकार हमको नहीं करना चाहिये। दूसरा बात टाल कर कहै तो उसकी उपेक्षा करदेना चाहिये। यदि कोई हमको क्रुद्ध करने की चेष्टा करे तो भी उसके साथ मीठे शब्दोंमें बातचीत करना चाहिये। यदि कोई अपनी निंदा करे तो बदले में उसकी निंदा नहीं करना चाहिये। और एक स्थल पर देवर्षि नारदजी ने पद्म नामक नाग के विषय में कहा है कि–वह एकसाथ कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका अवलम्बन करके चलते थे, वह सदा अतिथियों के प्रिय और क्षमाशील थे, किसी का अनिष्ट नहीं करते थे, वह सत्यवादी द्वेषहीन प्रियवादी और सदा सबका उपकार करने में तत्पर रहते थे। एक समय शिक्षा पाने की इच्छासे मैं उनके पास गया, परन्तु उस समय वह अपने घर नहीं थे, उनकी स्त्री ने मुझ ब्राह्मण को सन्मान पूर्वक बैठनेको कहा, परंतु मैं उसके पति के आने का प्रतीक्षा में नदी के किनारे जाकर

खड़ारहा। तहां खड़े रहने के समय उसने भोजन नहीं किया नागराजके कुटुम्बी मेरे समीप आकर आतिथ्य स्वीकार करने के लिये मुझसे आग्रह करने लगे। उन्होंने कहा कि—आपके भूखे रहने से हमारा आतिथ्यधर्म नष्ट होता है, इस लिये हमारे यहां के बालक से लेकर बूढे तक व्याकुल हैं। मैंने धीरज के साथ कहा कि-आपके इस आदरके व्यवहार से ही मैंने मानों भोजन करलिया। परन्तु जबतक नागराजके साथ साक्षात्कार नहीं होगा तबतक मैं भोजन नहीं करूँगा। इतने ही में नागराज भी आगये, उनकी पत्नी के साथ जो बातचीत हुई थीं, उस में ही हम गृहस्थधर्म का बहुत कुछ उपदेश पाते हैं। सबका उपकार करना ही गृहस्थधर्म है। जो कोई अतिथि रूपसे आवे उसकी यथाशक्ति शुश्रूषा करना चाहिये। गृहस्थ को प्रियभाषी, क्रोधहीन, निरहंकार, दयालु और सत्यवादी होना चाहिये। प्राचीन कालमें जातीय और पारिवारिक कर्त्तव्य की ऐसी ही शिक्षा दीजाती थी

> पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
> पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥
> यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
> यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥
> शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
> न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥
> जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
> तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥
> [मनु० ३ अ०]

पिता, भ्राता, पति और देवर यदि अपना परम कल्याण चाहें तो स्त्रिकोंका भूषण आदि से सन्मान करें॥५५॥ जहां नारियोंका यथोचित सन्मान होता है, तहां सकल देवता प्रसन्नता से रहते हैं और जहां स्त्रियोंका आदर नहीं होता है, शास्त्र कहता है कि–उस घरकी सारी क्रिया निष्फल होती हैं ५६ जहां कुलकी स्त्रियें

मनमें दुःखित रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट होजाता है, और जहां उनके मनको कुछ चिन्ता नहीं होती है वह कुल सदा फलता फूलता है ॥५७॥ यदि कुलनारियें अनादर पाकर किसी कुलको शाप देती हैं तो वह कुल उच्चाटन किया हुआसा शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट होजाता है ॥ ५८ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतत् यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ।४५।
(मनु० ९ अ०)

मनुष्य-पुत्र स्त्री, और आप मिलकर एक पुरुष कहलाता है, इसीलिये विद्वान् कहते हैं कि—जो भर्त्ता है वही पत्नी है ।४५।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थञ्च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥
अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणांतिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥
मनु० ९ अ०

जननी वनने के लिये नारियों को और सन्तान उत्पन्न करने के लिये पुरुषों को रचा है, इसलिये यह दोनोंका साधारण धर्म है, इसकारण पत्नी के साथ धर्मका आचरण करै ॥ ९६ ॥ मरण पर्यन्त दोनोंको एकमन होकर रहना चाहिये, यही संक्षेप से स्त्री पुरुषों का धर्म जानै ॥ १०१ ॥ नर और नारी विवाहित होकर दोनों नित्य धर्मको बढ़ावें, कभी विछिन्न न हों और मन से भी परस्पर विश्वासघात का विचार न करैं ॥ १०२ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।

काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् १०५
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिभोजनम् ॥ १०६ ॥
(मनु० ३ अ०)

दरिद्र होने पर भी अतिथि के सोनेके लिये तृण, बैठने के लिये भूमि, चरण धोने के लिये जल और प्रियमीठी वाणी इन सबका अभाव सज्जनों के घर कभी नहीं होसकता ॥ १०१ ॥ सायंकाल के समय सूर्यदेव के भेजे हुए अतिथि को कभी निषेध नहीं करना चाहिये, चाहे समय पर आवे चाहे असमय आवै, घर आये हुए अतिथि को कदापि भूँखा नहीं रखना चाहिये ॥ १०५ ॥ जो पदार्थ अतिथिको भोजन न करासकै, वह अति उत्तम होने पर भी अपने आप न खाय, अतिथि के प्रसन्न होनेपर गृहस्थ धन यश, आयु और स्वर्ग पाता है ॥ १०६ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

सत्य बोलै, प्रिय बोलै, अप्रिय हो तो सत्यवचन भी न कहै और प्रिय हो तो भी असत्य बात न कहै, यह सनातन धर्म है १३८

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यक् गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥
नारुंतुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥
(मनु २ अ०)

जो पुरुष अपनी वाणी को मिथ्याभाषण आदि से और मन को काम क्रोध आदि से बचाकर शुद्ध रखता है वह वेदान्तके ज्ञान का फल पाता है ॥ १६० ॥ अत्यंत पीडित होनेपर भी दूसरे को मर्मवेधी बात न कहै, जिससे दूसरे का अनिष्ट हो ऐसे किसी कर्म की चिंता भी न करै और जिस बातके कहने से लोग

व्याकुल हों परलोकमें बाधा डालनेवाले ऐसे वचनका उच्चारण न करै ॥ १६१ ॥

नास्तिक्यं वेदनिंदाञ्च देवतानाञ्च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भञ्च मानञ्च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६५ ॥

नास्तिकता, वेदनिंदा, देवनिंदा, द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और तीखेपन को त्यागदेय ॥ १६५ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥
अरुन्तुदः परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदंतं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानाम्
मुखेनिरुद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतंति
वैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ११ ॥
नहीदृशं सम्वदनं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥
तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान्सम्पूजयेद्दद्यान्न च याचेत्कदाचन ॥ १३ ॥

महाभारत, आदिपर्व ८७ अ०

कठोर वचन से किसी को दुःख न देय, छलसे शत्रुको जीते, जिस वाणी से दूसरा व्याकुल हो उस पापमय वाणी को कभी उच्चारण न करै ॥ ८ ॥ मर्मवेधी तीक्ष्ण और कठोर वचनसे भी किसी को कष्ट न देय, जो किसी को चित्त दुखाने वाला कठोर

वचन कहता है उसके मुखमें पाप राक्षसका वास होता है और लक्ष्मी उसको छोड़ जाती है ॥ ९ ॥ कठोर वचन तीखे बाणोंकी समान मुखमें से निकलकर प्राणलेने के लिये जिसके शरीरमें लगते हैं, वह रातदिन रोता है, चतुर पुरुष को ऐसा वचन कभी न बोलना चाहिये ॥ ११ ॥ दया, मित्रता, दानलेना और मधुर वाणी, त्रिलोकी में इसकी समान दूसरा धन नहीं है ॥ १२॥ इस कारण सदा कोमल वचन कहै, कठोर वचन कभी न कहै, पूजनीयों का पूजन करै, अपनी शक्तिके अनुसार दुःखितों को दान देय और कभी किसी से भिक्षा न मांगे ।

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि ।
क्रुद्ध परुषया वाचा श्रेयसो ह्यवमन्यते ॥ ४ ॥
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेत् यमसादनम् ।
एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभीः ॥ ६ ॥

पुरुष क्रोधमें होकर पाप करता है, क्रोधमें गुरुजनों की हत्या कर डालता है और क्रोध में कठोर वाणी से मान्यों का अपमान करता है ॥४॥ क्रोधमें अपने आपे को भी यमपुरी पहुंचा देता है, इतने दोषोंको देखनेवाले विद्वानोंने क्रोधको जीता है ॥ ६ ॥

किंस्विदेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ २ ॥
सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ ३ ॥
एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम् ।
आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! ऐसी एक वस्तु कौन है, कि जिसका आचरण करता हुआ पुरुष पूजनीय होता है और यश पाता है ॥२॥ वह एक वस्तु नम्रता है, जिसका आचरण करनेवाला आदर और यश पाता

है ॥ ३ ॥ एक यह ही सब लोकों को सुख देनेवाला है, इसका आचरण करनेवाला सदा सब प्राणियोंका प्यारा होता है ॥४॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः ॥ १७ ॥

(महाभारत वनपर्व २९ अ०)

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिके बलसे रोकदेता है, विद्वान् पुरुष उसको तेजस्वी मानते हैं ॥ १७ ॥

दशम अध्याय

निकृष्टों के साथ व्यवहार

हम संसारमें को जितना अधिक प्रवेश करेंगे, उतनाही हमारी अपेक्षा छोटी अवस्थाके अज्ञानी, दरिद्र और नीचे श्रेणीके लोगों के साथ हमारा सम्पर्क होगा। जो किसी प्रकार हमारी अपेक्षा निकृष्ट हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार करने पर और उनके सम्पर्क में किस २ गुण की चर्चा और किस २ दोषका परिहार करनेपर ठीक २ निर्वाह होगा यह बात अवश्य मालूम होनी चाहिये।

सबसे पहिले अपनेसे छोटी अवस्था वालोंके साथ व्यवहार का निर्णय करना आवश्यक है। उसमें पुत्र कन्या आदिके साथ पिता माता का व्यवहार ही मुख्य है। कोमलता, सहानुभूति, मधुरता और दया यह पिता माताका प्रधान और आवश्यक धर्म है। इससे घरकी उन्नति होती है, पिता माता अपनी सन्तान से प्रेम करें, उनके कष्टको कष्ट समझें उनके सुखमें सुखी हो और उनके साथ सब विषयमें सहानुभूति दिखावे।

यह विषय एक पुरानी कथामें उत्तमरूप से वर्णित है। एक समय गोमाता सुरभिने देवराज इंद्रके सामने जाकर रोते २ कहा कि–मेरी सन्तानके कष्टसे मेरी छाती फटीजाती है। देवराज यह देखो मेरी दुर्वल संतानें हलको उठाने में असमर्थ होकर

बार २ भूमिपर गिर २ पडतीं हैं तब निर्दयी किसान इनको दण्डोंसे पीटते हैं। जो बलवान् होते हैं वह अनायासमें ही बोझा उठासकते हैं, परन्तु दुर्वल सन्तानोंके कष्टको देखकर अपने रोने को नहीं रोकसकती हूं, इनके कष्टको देख २ कर मेरा हृदय विदीर्ण होता है। इन्द्रने बूझा कि–क्या तुम्हारी सहस्त्रों संताने इसीप्रकार कष्ट भोगती हैं। सुरभीने कहा–हे देवराज! मैं उन सहस्त्रोंमें हरएकके लिये रोती हूं और उनमें जो अधिक दुर्वल है उसके लिये मुझको अधिक कष्ट है इन्द्रने इस बातको सुन कर समझा कि—संतानके लिये माता का मन कैसा व्यथित होता है। तब उन्होंने भूतल पर जल वर्षाकर पशु और मनुष्य सब को आनन्दित करदिया।

रामचंद्रजी के ऊपर दशरथजीके वात्सल्यका विचार करनेसे हृदय चौंक उठता है, वह अपने आदर्श पुत्रके गुणगान सुनकर जैसे अतुल आनन्दित होते थे तैसे ही उनके बनको जानेपर दुःखित हुए। जिस समय क्षत्रिय वीर और प्रजाके लोगोंने श्रीरामचंद्रजी का युवराज पद पर अभिषेक करनेके लिये आग्रह किया था उस समय जैसे प्रसन्न हुए थे तैसे ही जब कैकेयी ने वन जाने के लिये वरदान मांगा तब उन्होंने रामके शोकमें रानी का निहोरा करतेहुए कहा था कि—

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं शस्यञ्च वर्षणं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवनम् ॥

चाहे सूर्य के विना लोक ठहरा रहै और चाहे वर्षा के विना खेत में अन्न भले ही ठहरा रहै, परन्तु रामके बिना मेरे प्राण शरीर में नहीं रह सकते।

उन्होंने यह बात झूठ नहीं कही थी। वास्तव में रामके बिना उनके प्राण शरीर में नहीं रहे। इसके सिवाय रामचन्द्र और कौशल्या के हृदयविदारक दृश्य को भी स्मरण करो, उन्होंने

रामचन्द्र को वन को जानेके लिये निषेध किया था, हृदयमें चोट लगने से व्याकुल होकर विलाप करने लगी थीं, और कहनेलगीं कि–राम ! तुम चलेजाओगे तो मेरा हृदय सूखजायगा यदि तुम वनको जाओगे तो मैं भी तुम्हारे साथ २ जाऊंगी, जैसे गौ बछड़े के पीछे २ जाती है तैसी ही दशा मेरी भी होगी।

इसके सिवाय कुन्ती के कष्ट की कथा पर भी जरा ध्यान दो उसके पांचों पुत्र वनको जाते हैं, वह कपट के जुए में जीत लिये गये हैं, कुन्तीके हृदयका बल वहुत वढ़ाहुआ था। वह आदर्श नारी और आदर्शमाता थी, युद्धके समय उसने श्रीकृष्णजी से कहा था कि–पाण्डवोंसे कह दीजिये, कि इस वार माताके दूधका वल दिखाने का अवसर आया है, सन्मानकी रक्षाके लिये प्राण देदेना भी अच्छा है। परन्तु ऐसी कुन्ती भी पाण्डवों के वनको जाते समय रोउठी थी।

याद करो–अभिमन्युकी मृत्युसें शोकके कारण अर्जुनकी क्या दशा हुई। जिस समय वह रणक्षेत्रसे लौटकर शिविर को आरहे थे उस समय उनको मालूम हुआ कि–मानो उनके शरीरमें बल रहाही नहीं। उन्होंने श्रीकृष्णजी से इसका कारण बूझा, शिविर में आकर भ्राताओं से भी वड़ी व्यग्रता के साथ इसका कारण बूझा, कोई भी उनको हृदयविदारक पुत्र के मरण की बात न जतासका, परन्तु उनका हृदय पुत्रके मरणकी यन्त्रणा को भोगरहा था। निःसंदेह उस बालकने शत्रुओंसे घिरकर अपने मनमें विचारा था कि–मेरे पिता अवश्य इस दारुण सङ्कट से मेरी रक्षा करेंगे। परन्तु उसके पिता आ नहीं सके। उसको सैंकड़ों अस्त्रोंकी चोट खाकर प्राण त्यागने पड़े। अर्जुन पुत्रकी रक्षा करनेको तहां आकर न पहुंचसके, इस चिन्तामें वह उन्मत्त से होगये थे, क्योंकि–चिरकालतक वीरका हृदय दुर्वलकी रक्षाके

लिये व्यग्र रहता है और वह वीर यदि पिता हो तथा वह दुर्वल यदि परम प्रिय पुत्र होतो इस व्यग्रभाव की सीमा नही रहती।

यह दुर्वलकी रक्षारूप कर्त्तव्य पूर्णरूपसे राजाको ही शोभा देता है। इस कर्त्तव्यका साधन करके ही राजा प्रजाके हृदयमें राजभक्तिको जगादेता है। भीष्मजी ने कहा था कि–प्रजाओंको प्रसन्न रखना ही राजधर्म का सार है। जैसे माता अपने गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तान के कल्याण के लिये निरन्तर व्यस्त रहतीहै तैसे ही प्रजा के मङ्गल के लिये राजा को व्यस्त रहना चाहिये। जैसे माता अपने इच्छित विषय की वासना को त्यागकर केवल सन्तान के मङ्गलका ही ध्यान रखती है तैसेही राजा को प्रजाके लिये करना चाहिये। यह रक्षा का कार्य इतना गुरुतर है कि–राजा सगर ने अपने वड़े पुत्र असमञ्जाको उसके निर्दयीपने के अपराध पर देश निकाला देदिया था।

सज्जन राजाओं के दुर्वल शरणागतों की रक्षाके विषय के अनेकों उपाख्यान हैं। वह केवल मनुष्योंकी ही रक्षा नही करते थे, अन्य प्राणियों पर भी उनकी कृपा होती थी। महाप्रस्थानके समय एक कुत्ता हस्तिनापुर से राजा युधिष्ठिर के पीछे २ जाकर उस दुर्गमपार्गको लांघताहुआ उनके साथ २ गयाथा। इन्द्र स्वर्ग से राजाको लेजानेके लिये आये थे, जब इन्द्रने युधिष्ठिर से रथ पर चढ़ने को कहा तव राजाने कुत्ते के माथे पर हाथ फेरकर कहा कि यह कुत्ता मेरा बड़ा ही प्रेमी है, यह भी मेरे साथ हीं जायगा मेरा भी पृथिवी की इस सन्तान के ऊपर बड़ा ही प्रेम है। इन्द्र ने कहा कुत्ते को स्वर्ग में प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है। हे राजन्! तुमही मेरी समान अमरत्व, देवत्व, अतुलसम्पत्ति और दिव्य सुख के अधिकारी हुए हो, इस कुत्ते को छोडो, केवल यह ही स्वर्ग में आरोहण करने में काँटे की समान है, ऐसा करने में कुछ निष्ठ-

रता नहीं है, यह पृथिवी में बद्ध है, पृथिवी पर ही रहेगा युधिष्ठिर ने कहा हे सहस्रलोचन! हे धर्ममय! किसी आर्य को अनार्य की समान कार्य नहीं करना चाहिये, मैं शरणागत को त्यागकर स्वर्गका सुख नहीं चाहता। इन्द्रने दृढ़ताके साथ कहा कुत्तेको साथ में लेकर स्वर्गमें जाना नहीं होसकता। कुत्तेको त्यागकर शीघ्र ही आइये, वृथा समय को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। युधिष्ठिरने कहा शरणागतको त्यागनेकी समान भी दूसरा पाप नही है, विद्वानोंने कहा है इस पापका कुछ ठिकाना नहीं है, दुर्बल शरणागत की रक्षा करना ब्रह्महत्या की समान बडाभारी पाप है।

हे इन्द्र! मैं स्वर्गसुख पानेके लिये शरणागत कुत्ते का त्याग नहीं करसकता, इन्द्रने आज्ञा भी दी और प्रार्थना भी की, परन्तु परिणाम ज्यों का त्यों रहा, युधिष्ठिर अपनी बातसे न हटे। वृथा तर्कवाद उनकी स्पष्ट दृष्टिको लांघ न सका। इन्द्रने कहा-तुम स्त्री और भ्राताओं को त्यागकर आये हो, फिर कुत्ते को त्यागने में क्या दोष है? युधिष्ठिर ने कहा-मेरे भ्राता और द्रौपदी ने शरीर को त्यागदिया है, उनको बचाने की मुझमें शक्ति नहीं थी, इसी कारण मुझे उनको छोडकर आनापडा। वह जबतक जीतेरहे तबतक तो उनको नहीं त्यागा, मेरे साथियोंमेंसे एक अबतक भी जीवित है, शरणागतको भय दिखाना, स्त्रीकी हत्या, ब्राह्मणका धन हर लेना यह सब पाप और शरणागतका त्याग करना, मेरी समझमें एकसमान हैं, यह कहने पर उस कुत्ते ने धर्मकी मूर्त्ति धारण करली और उसके तथा इन्द्र के साथ धर्मराज देवता और ऋषिमुनियों से स्तुति कियेजातेहुए स्वर्ग को चलेगये।

और एक पुरानी कथा सुनिये। उशीनर के पुत्र राजा शिवि एकसमय सभासदोंके सहित सभामें बैठेहुए थे। इतने ही में एक कबूतर आकाशमार्गसे उतरकर उनकी गोद में आबैठा, यह कबूतर थकावट और भयके मारे जोर २ से श्वास लेरहा था, राजा यत्नके

साथ उसकी शुश्रूषा करनेलगे। इतने हीं में एक बाज क्रोधमें भरा हुआ उस सभाभवन में आया। कबूतरने बाजको देखकर कहा कि-हे राजन्! मैं इस देश में रहता हूं, और आप यहाँ के राजा हैं, अब मैं आपकी शरण आया हूं, इसलिये आपको मेरी रक्षा करना चाहिये, बाजने कहा कि-मैं भी आपके राज्यमें रहता हूं यह कबूतर मेरा दैवका दियाहुआ आहार है, मुझको आप मेरे अधिकारसे न हटाइये। राजाने कहा कि-तुम दोनों का ही कहना ठीक है। हे कबूतर! तुमको मुझसे अभय माँगनेका अधिकार है और हे बाज! तुम का भी भोजन की सामग्रीसे वंचित करना अनुचित है। मुझको इन दोनों धर्मोंका पालन करना आवश्यक है, इसलिये हे बाज! तुम अपने भोजन के लिये मुझसे और कुछ मांग लो, मैं तुमको पेट भरकर भोजन करादूँगा। बाजने कहा-मुझको इस कबूतर के सिवाय और कुछ नहीं चाहिये। और तुमको अन्य भोजन देकर अवश्य ही अपनी इच्छा पूरी करनी है तो इस कबूतर के देहकी बराबर अपने शरीरमें का मांस दो। यह सुनते ही मन्त्री लोग क्रोध में भरकर उसी समय क्रूर हृदय बाजके प्राणलेने को उद्यत हुए। परन्तु महाराज शिविने कहा कि-मैं राजारूपसे सिंहासन पर बैठा हूं, मुझको छोटे बड़े का भेद करना उचित नहीं है। कबूतर या बाज के लिये नहीं किंतु केवल धर्मके लिये मुझको प्रजाओं की दृष्टिमें आदर्श बनना आवश्यक है। जब छोटी ही बातका मुझसे निबटारा नहीं होसका तो फिर किसी बड़े विषयमें ठीक २ न्याय होनेकी क्या आशा? यदि मैं ठीक२ विचार न करूंगा तो प्रजाओं का अधःपतन होने लगेगा, इसलिये शीघ्रही तराजू लाओ आज्ञा टालनेमें असमर्थ होकर मनमें परम दुःखित होतेहुए मन्त्री लोग तराजू लाये। राजाने फोके हाथसे तराजू के एक पलड़ेमें कबूतर को बैठालदिया और दूसरे पलडेमें अपने हाथसे ही छुरीसे अपने

शरीरमें से मांसका एक बड़ासा लौंदा काटकर चढादिया परन्तु वह कबूतरकी बराबर नहीं हुआ, तब राजाने थोडासा मांस और काटकर चढाया, तब भी कबूतर ही भारी रहा, तीसरा टुकडा और काटकर चढ़ाया तबभी कबूतरकी बराबर नहीं हुआ तब राजा ने अपना सारा शरीर चढ़ादिया, उसीसमय कबूतर और बाजका रूप अन्तर्धान होकर वह अग्नि और इन्द्र होगये और कहने लगे कि-हे शिवि! तुमहीं सच्चे राजा नामके योग्य हो। राजाका मुख्य धर्म जो प्रजाओंकी रक्षा करना है, उसको तुमने उत्तम रूपसे सीखा है, हम तुम्हारे राजधर्मपालनके विषयमें जो कुछ सुनते थे आज हमने उससे भी अधिक अपने नेत्रोंसे देखलिया, तुम्हारी समान दूसरा नहींहै, तुम चिरकालतक प्रजाओंके अन्तःकरणमें निवास करो।

राजा लोग चिरकालतक दुर्बलोंकी रक्षा करनेमें ही अपने जीवनको बितादेते थे, इसी कारण यह सब कथायें आजतक प्रचलित हैं, बालक भी अपनी२ शक्तिके अनुसार दुर्बलोंकी रक्षा करसकते हैं, इन सब कथाओंको पढ़कर यदि हम अपने जीवनमें उनका अनुकरण न करें तो पढ़नेका कुछ भी फल नहीं हुआ।

रन्तिदेवकी समान दयालु राजा होना दुर्लभ है, एकसमय वह और उनके अनुचर ४८ दिन तक बिना भोजन किये रहे। ४९वें दिन प्रातःकालके समय कुछ घी दूध जौ और जल इकट्ठा किया गया, जिससमय वह इन पदार्थोंके खानेका उद्योग करते थे उसी समय एक ब्राह्मण अतिथिस्वरूप से आपहुंचा, राजा ने पहिले उसको संतोषके साथ भोजन कराकर विदा करदिया, फिर शेष बचेहुए सामानको तुल्यभागोंमें बांटकर अनुचरों सहित भोजन करनेको बैठे-इतने ही में एक भूँखा शूद्र आपहुंचा उन्होंने उसको भी भोजनका कुछ भाग दिया, शूद्रके प्रसन्न चित्तसे चलेजानेपर राजा भोजन करनेको बैठे इतनेहीमें कितने ही भूँखे कुत्तोंको साथ में लियेहुए एक और भूँखा पुरुष तहां आपहुंचा। उस समय

राजाने अपना बचाबचाया भोजन सब उनको देदिया, वह भी प्रसन्न होकर चलेगए तब रन्तिदेवने देखा कि-बहुत थोडासा जल बचरहाहै, और विचार रहे थे कि इसको ही पीकर अपनी प्यासको शान्त करलूँगा इतने हीमें उनके कानोंमें यह शब्द पहुंचा कि-मानो कोई कातर स्वरमें कहरहा है कि-जल दो, एक बूँद जल दो, राजाने उधरको आंख उठाकर देखा तो एक चांडाल प्याससे कंठ सूखाहुआ भूमिपर पडा है। राजा रन्तिदेवने कातर भावसे उसके पास पहुंचकर बडे यत्नसे उसका शिर ऊपर को उठाया और अपना जल देकर कहनेलगे कि-पी भाई!, रन्तिदेव के इस मधुरवाक्यसे ही उसकी आधी प्यास शान्त होगई, जब चांडाल जल पीकर तृप्त होगया, तब रन्तिदेवने हाथ जोड भगवान्से प्रार्थना की कि-हे दयामय! मैं अष्टसिद्धि नहीं चाहता, निर्वाणपद भी मैं नहीं मांगता, मैं जो सकल जीवोंके दुःखसे कातर होकर उनके नेत्रोंका जल पूंछसका, वह सब प्रसन्न होकर स्वच्छन्द चलेगए इन तृष्णार्तोंकी तृष्णाको दूर करनेसे मेरे भूख प्यास आदि शरीरके सब दुःख दूर होगए। राजा रन्तिदेवकी इस प्रार्थनासे दयालुपनका कितना पता मिलता है।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
मनु० २ अ०

जिस में हिंसा न हो इसप्रकार सकल प्राणियों का श्रेय करना चाहिये, धर्म के अभिलाषी को मीठी प्यारी वाणी बोलना चाहिए॥ १७६॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कंटकानाञ्च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥
मनु० ६ अ०

श्रेष्ठ आचरणोंकी रक्षा और दुराचरणों को दूर करते हुए प्रजाका पालन करनेसे राजे स्वर्गको जाते हैं।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

मनु० ७ अ०

अधिकार के अनुसार अपने २ धर्ममें स्थित सकल वर्ण और आश्रमों की रक्षा करनेवाला राजा को बनाया है।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यंच रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

मनु० ७ अ०

जैसे घास को दूर करके किसान खेतकी रक्षा करतेहैं तैसेही राजा शत्रुओंका नाश करके राज्यका रक्षा करै।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणीर्गर्भिणीस्तथा ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारतः ॥ ११ ॥

मनु० ३ अ०

नवीन विवाहिता स्त्री, कुमारी रोगिणी और गर्भिणी इनको अतिथि से भी पहिले भोजन करादेय, इसमें कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ।

मनु० २ अ०

गाडी पर सवार, नव्वह वर्ष से अधिक अवस्थावाला, रोगी बोझी, स्त्री, स्नातक, राजा और वरके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये ॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवम्वा ।
आर्त्तिं प्रपन्नोऽस्मि नृदेहभाजामन्तस्थितो येन भवन्त्वदुःखाः ॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोजीवजलार्पणान्मे ॥

(श्रीमद्भागवत ९। २१

ईश्वर की परगति को पाना नहीं चाहता, निर्वाणपद और

अष्टसिद्धि को नहीं चाहता, हे दयामय ! आपके चरणों में यही प्रार्थना है कि-संसार के सकल जीवों को दुःख न हो ॥ आज तुम्हारे जीवोंकी तृष्णाको दूर करनेसे मेरी भूख,प्यास शरीर की पीडा, दीनता, क्लेश, शोक,विषाद और मोह आदि सब दूर होगये ॥

अनुक्रोशो हि साधूनामापद्धर्मस्य लक्षणम् ।
अनुक्रोशोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥

महाभारत अनुशासनपर्व

कृपाभाव साधुओं की दयालुता का लक्षण है, कृपाके कारण अनेकों आशीर्वाद मिलते हैं।

—०—

एकादश अध्याय

परस्पर के पाप पुण्य की शक्ति

इस समय हमने अनेकों प्रकार के पाप पुण्यों का स्वतन्त्र २ विचार किया और अनेकों उदाहरणों के द्वारा पुण्य से सुख मिलता है और पाप अनेकों कष्टोंकी खान है यह बात भी प्रमाणित की, अब एक पुण्य किस प्रकार दूसरे पुण्य को उत्पन्न करता है और पाप किस प्रकार अन्य पाप को उत्पन्न करदेता है, इस का ही विचार करेंगे । यह विचार करने पर पुण्यकार्य के द्वारा दूसरे का सुख उत्पन्न करनेवाली शक्ति प्राप्त होगी। हम स्वयं प्रेमभाव रख कर दूसरे के चित्त में प्रेम की वृद्धि करसकते हैं। घृणा करके दूसरे के चित्त में घृणा उत्पन्न करसकते हैं। जो जिसको जिस भाव से चाहता है, उसके बदले में उस पुरुष का भी उसके ऊपर तैसाही भाव उत्पन्न होजाजाता है। क्रोधी पुरुष समीप के पुरुषों के मनमें भी क्रोध उत्पन्न करदेता है, इसी कारण से कलह उत्पन्न होने पर आगे को बराबर बढताही चलाजाता है और धीरे २ वह बहुत ही तीव्र हो उठता है। क्रोध की बात के उत्तर में क्रोध की बात

कहने से ही उसकी मात्रा अधिक ही होती चलीजाती है और मीठी बातों से मीठी बातें उत्पन्न होते २ अन्त में दया सत्कार्य आदि की सृष्टि होजाती है।

इस तत्त्वका ठीक २ समझलेने पर हम उपयोगी सद्भावको उत्पन्न करके दूसरेके दुष्टभाव का नाश करसकते हैं। यदि कोई हम से क्रोध की बात कहै, उसी समय क्रोध में भरकर उत्तर देने की इच्छा होगी ही इस में संदेह नहीं है, परंतु उस समय उस चित्तकी वृत्तिको रोककर कोमलताके साथ उसका कारण बूझने पर अवश्यही उसका क्रोध शान्त होजायगा, इसका ही नाम बुरे के बदले में भला व्यवहार करना है। ऐसा व्यवहार करने से ही हम शान्ति स्थापन करसकते हैं और ऐसा करने से ही सब सुखी होसकते हैं।

जब द्रौपदी ने वनवास के समय युधिष्ठिर को कौरवों के ऊपर उत्तेजित करने की चेष्टा की थी, उससमय उन्होंने द्रौपदी को धीर भाव से समझादिया था कि-दुष्ट व्यवहार के बदले में दुष्टव्यवहार करने से आगे को बराबर अमङ्गल ही अमङ्गल होता चला-जाता है। ज्ञानी पुरुष, दूसरे के दुष्ट व्यवहार के द्वारा उत्तेजित करनेपर भी उसको सहजाते हैं उनके साथ कैसा ही दुर्व्यवहार करो उनको क्रोध नहीं आता है। इस अपने को कष्ट देनेवाले की उपेक्षा करने से ही वह परलोक में सुख पाते हैं। इसकारण ही ऐसा कहा है कि-ज्ञानी पुरुष चाहे दुर्बल हो, बलवान् हो, वह पीड़ा देने वालों के ऊपर भी सदा क्षमा करता है और यहांतक कि-यदि दुःख देनेवाले के ऊपर कष्ट आकर पडे तो उसका उपकार ही करते हैं, अपकार नहीं करते हैं। यदि मनुष्यों में कोई २ पृथिवी की समान क्षमाशील न हो तो मनुष्य समाज में शांति नही रहसकती. निरन्तर क्रोधके कारण वादविवाद ही रहैं यदि कोई अनिष्ट करै तो बदले में उसका अनिष्ट ही कियाजाय

और यदि कोई दण्डित हो तो उसको दण्ड दिलाने का ही यत्न कियाजाय तो अवश्य ही सकल जीवों का नाश होजाय और भूतलपर केवल पाप का ही राज्य बढ़जाय। यदि सबही पुरुष दूसरे के मुखसे दुर्वचन सुनकर बदले में उसको दुर्वचन ही कहैं, यदि अपकार करनेवाले का बदलेमें अपकार ही करैं, यदि दण्डित होनेवाले पुरुष दण्ड देनेवालेको दण्डही देना चाहें, तो पिता पुत्रकी, पुत्र पिता की, पति स्त्री की और स्त्री पति की हत्या करने लगैं। इसकारण हे कृष्ण ! ऐसी क्रोधभरी भूमिपर फिर जीवों का उत्पन्न होना भी असम्भव होजाय क्योंकि-शान्ति के विना जीवों की उत्पत्ति होही नहीं सकता।

राजा दशरथ ने किसप्रकार शान्तभाव से पत्नी के क्रोधको शान्त किया था उसको सुनिये। श्रीरामचन्द्रजी की माता कौशल्या ने अलौकिक पुत्र श्रीरामचन्द्रजीके वनवास से दुःखित होकर क्रोधभरे स्वर में स्वामी से कहा था कि-तुमने निष्पाप पुत्रकी अपने हाथ से हत्या की है, तुम्हारे पूर्वपुरुष बड़े यत्नके साथ जिस मार्ग की रक्षा करते चलेआते थे, उस पुरातन नीति मार्ग में तुमने खूब चलना प्रारम्भ किया है ? स्त्रियों का पहिला आश्रय पति ही है, दूसरा पुत्र और तीसरे कुटुम्बी हैं, तुमने मुझको त्यागदिया है, राम भी चलेगये, मैं तुमको छोड़कर राम के पास भी नहीं जासकती हूं, तुमने सबप्रकार से मेरा नाश करदिया और राज्य तथा प्रजाओं की भी रेड मारदी।

राजा ने इस तीव्र दुत्कार को सुनकर दुःखित हो अपना मुख नीचे को करलिया, उनका चित्त घबड़ागया और मूर्छित होगये। मूर्छा दूर होनेपर उनके समीपमें कौशल्याको देखते ही अपने पहिले करेहुए उस पाप का कि-जिसके फल से यह सब अनिष्ट हुआ स्मरण आया। उस पहिले करेहुए पाप और रामवियोग के सन्ताप इन दोनों कष्टों से मुरझाये से होकर हाथ जोडेहुए राज दशरथ

धीरे२ कौशल्यासे कहनेलगे कि-कौशल्या! क्षमाकर मैं हाथ जोड़े हुए भिक्षा मांगता हूं क्षमाकर! तू सदा सबके लिये कोमलहृदया रही है, यह तेरा पति भला बुरा जैसा है उसको क्षमा कर। मैं दुःखके कारण परमव्याकुल होरहाहूं, और अधिक तीखे वचनरूपी बाण से न बेध, कौशल्या राजाके ऐसे करुणाभरे वाक्योंको सुन कर अपने आँसुओं को न रोकसकी, उसके नेत्रों में से वर्षा की समान आँसुओं की झड़ी लगगई, क्रोध दूर होगया और स्वामी से जो कठोरवचन कहे थे उनके कारण मनमें बड़ी पीड़ा पानेलगी, उसने राजा के दोनों हाथ अपने हाथोंसे अपने मस्तक पर रखकर कहा कि नाथ! मेरे अपराधको क्षमा करिये। मैं आपके चरणों में लोट कर कातरभाव से प्रार्थना करती हूं कि-मुझको क्षमा करिये, मैं क्षमाकी पात्र हूं, क्योंकि-मैंने जो बड़ाभारी पाप किया है, उसको यदि आप क्षमा न करेंगे तो मेरा उद्धार होना कठिन है। जो मूर्ख स्त्री स्वामी के ऊपर जोर चलाकर उसको दुःख देनेकी चेष्टा करती है, उसको इसलोक में विज्ञ पुरुष कहीं अच्छा नहीं कहते। नाथ! मैं धर्म को जानती हूं और यह भी अच्छे प्रकारसे जानती हूं कि-आप धर्मज्ञ हैं, इसीकारण आपकी प्रतिज्ञाका पालन और सत्यकी रक्षा करूँगी पुत्रशोकसे ज्ञानहीन होकर ही मैंने यह दुर्वचन कहे थे। शोक धैर्यका नाश करदेता है, शोक ज्ञान का नाश करदेता है, शोक की समान दूसरा शत्रु कोई नहीं है। मैं जब प्रियशत्रु के वनवास की बात मनमें लाती हूं तो शोक के कारण मेरा मन वर्षा की नदी की समान उबल उठता है। इसप्रकार राजा दशरथ की धीरता से कौशल्या की उग्रता नष्ट होगई थी। परन्तु यदि वह भी दुर्वाक्यों में उत्तर देते तो निसन्देह विरोध होकर घोर अशान्ति उत्पन्न होजाती और दोनों उस दुःखके समय अलग २ होकर बैठजाते, परन्तु उस नम्रभाव ने दुर्वचनोंको सहकर क्रोध को शान्त करदिया, क्रोधके बदले में कौशल्याका हृदय भी नम्रता और करुणा से आर्द्र होगया।

इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजी के क्रोधभरे अन्तःकरणमेंसे भरतजीके ऊपरका द्वेषभाव दूर किया था जब श्रीरामचन्द्रजी ने अयोध्याको छोड़कर भाई और स्त्री के साथ वनका आश्रय लिया, उस समय एक दिन दूर पर कुछ २ सेनाके आने केसा कोलाहल सुनकर लक्ष्मणजीसे वृक्षपर चढकर उस कोलाहलका कारण देखनेको कहा। लक्ष्मणजीने देखा कि-भरत सेना को साथमें लिये आरहे हैं, वनवासके कष्टसे उनका मन उद्वेलित होही रहाथा। उन्होंने भरतजीके ऊपर संदेह करके श्रीरामचन्द्रजी के समीप आ भरतजीके साथ युद्ध करनेको तयार होनेकी सम्मति मांगी। उन्होंने समझा कि-भरत हमारा नाश करके निष्कण्टक राज्य करनेके लिये ही आरहे हैं। परन्तु श्रीरामचन्द्रजी के हृदय में भरतजीके ऊपर ऐसा भाव नहीं था, उन्होंने कहा भाई! भरतका अविश्वास न करो, मैं अभी उनसे कहदूंगा कि-सब राज्य लक्ष्मण को देदो तो भरत प्रसन्नताके साथ 'हां दे दिया' कहकर तुमको सर्वस्व देदेंगे। यह सुनकर लक्ष्मणजी क्रोधके स्थान में उलटे लज्जित हुए। भरतजी ने आकर श्रीरामचन्द्रजी को अयोध्या में लेजाने के लिये बड़ी व्यग्रता दिखाई, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने पिताके सत्य पालनके व्रत का भङ्ग नहीं किया। हारकर भरतजी ने उनकी दोनों खड़ाऊँ लेकर अयोध्या के राजसिंहासन पर स्थापित करदीं और श्रीरामचन्द्रजी के प्रतिनिधि बनकर चौदह वर्षतक राज्य का शासन किया।

वनवास के समय द्रौपदी और पाण्डवों ने युधिष्ठिर से, प्रतिज्ञा भङ्ग करके युद्ध करनेके लिये बार २ आग्रह किया, परन्तु शान्तस्वरूप युधिष्ठिर ने अपनी स्त्री और भाइयों के असह्य वचनों की सर्वथा उपेक्षा करके शांतिभरे वाक्यों में उनको सत्य और न्याय का मार्ग दिखाया। एक दिन भीमसेनने अत्यन्त ही क्रुद्ध होकर जुएकी झूठी प्रतिज्ञा की रक्षा करना निष्प्रयोजन बता भाई को अनेकों ताने दिये और कहा कि-तुम जानकर राज्य धनको

त्याग हृदय की दुर्बलता के कारण प्रिय स्त्री और आज्ञाकारी भाइयोंको कष्ट देरहे हो, तथा क्षत्रियधर्म को त्यागकर लोगों में हँसी कराहे हो। परन्तु युधिष्ठिर इन सब बातोंसे विचलित नहीं हुए और कुछ देर चुप रहकर कहा कि-भीम! तुम जो कुछ कहते हो सब ठीक है, तुम्हारी बात से मेरे मनमें कष्ट होने पर भी मैं कुछ नहीं कहूंगा, क्योंकि-मेरी निर्बुद्धिताके कारण ही तुम सबों को कष्ट हुआ है। मुझ को अपना मन वश में रखना उचित है स्वार्थ घमण्ड और क्रोधके वशमें होना ठीक नहीं है, इसकारण मैं तुम्हारे तीखे वचनोंका उत्तर कैसे देसकता हूं, परन्तु भाई! मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसको किसी प्रकार भङ्ग करके मिथ्यावादी होकर राज्य पाने की अपेक्षा मेरी समझ में मरजाना अच्छा है, तुम्हारा कष्ट देखकर मेरी छाती फटती है, परन्तु इससे मैं अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग नहीं करसकता, इसकारण मुझको कठोर वचन कहना निष्फल है, अच्छे दिन आनेकी प्रतीक्षा करो, किसान कभी अन्न पानेके लिये उतावल नहीं होता है। भीम! मेरी प्रतिज्ञाका भङ्ग होना ठीक नहीं है, क्योंकि-धर्मरक्षा जीवनसे ही नहीं किन्तु स्वर्गके सुखसे भी बढकर है। राज्य, पुत्र, यश, धन, सम्पदा, यह इकट्ठे होकर सत्यके सोलहवें भागकी समान भी नहीं होसकते। ऐसे धीरभावसे वह भ्राताओंके वाक्य और उत्तेजनको सहते थे, सब दोषोंको अपने ही मानलेते थे इसी कारण उनके भ्राताओं का क्रोध बढ़ नहीं सकता था।

जैसे धैर्य की सहानुभूतिसे प्रेम की उत्पत्ति होती है, तैसे ही निःसंदेह हास्यसे घृणाकी उत्पत्ति होती है, घृणासे ही और सब प्रकारके अनिष्ट उत्पन्न होजाते हैं, राजा युधिष्ठिर का यश दिग् दिगन्त में फैलाहुआ था। लोग जहां तहां उनके राजसूय यज्ञकी कथा कहा करते थे। उस यश और प्रशंसासे ही उनके प्रतिद्वन्द्वी दुर्योधनके हृदयमें ईर्षाका बीज उगा था, वही ईर्षा भीम आदिके असावधानी के व्यवहार से और भी बढ़गई थी। क्योंकि—एक

समय राजा युधिष्ठिर सभामें सुवर्णके सिंहासन पर योग्य मित्र और भ्राताओंके साथ बैठे हुए थे, इतनेमें दुर्योधनने अपने भाइयोंके सहित तहां प्रवेश किया, इस सभाको मय दानवने अपनी शिल्पचातुरीसे बनाया था. दुर्योधनने स्फटिककी भूमिको जलसे भरीहुई समझकर सावधानीके साथ अपने वस्त्र ऊपरको उठाये और जलको थल समझकर भ्रमसे उसमें गिरपड़े, जिससे कि-सब वस्त्र भीगगए, यह देखकर भीमसेनने बडे जोरसे कहकहा लगा कर दुर्योधनका उपहास किया तथा भीमसेनकी देखादेखी और भी बहुतसे लोग हंसे। यद्यपि युधिष्ठिरने भीम आदिको इस अन्याय के व्यवहारको करनेके कारण दुत्कारा, परन्तु दुर्योधनके हृदय में एकसाथ लज्जा और क्रोधका उदय हुआ, उसने उसी समय हस्तिनापुरमें आकर इसका बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की। यही द्यूत क्रीडा और पाण्डवोंके वनवासका कारण हुआ, इसीके फलस कुरुक्षेत्रका युद्ध हुआ, जिसमें दोनों ओरके असंख्यों वीर कुटुम्बियों का प्राणांत होकर अन्त को दुर्योधनके प्राणोंकी पूर्णाहुति हुई।

अहितके बदले में अहित करने से उत्तरोत्तर अमङ्गल की ही वृद्धि होती है। भृगुपुत्र जमदग्निजी तपस्या और कठोरताके विषय में प्रसिद्ध होगये हैं, परशुराम उनके ही वंशधर थे। परशुराम यद्यपि जातिमें ब्राह्मण थे, परन्तु उनका स्वभाव क्षत्रिय था अपने पितामहके कथनानुसार वह क्षत्रियके योग्य सकल गुणोंसे भूषित होकर प्रकट हुए थे जमदग्नि में कुछ उग्रता प्रच्छन्नभावसे स्थित थी, वह कठोर तपस्यासे भी दूर नहीं हुई, उसके कारणही इस वंशका बडाभारी दुर्दैव घटित हुआ था। जमदग्निने अपने उग्र स्वभावके कारण स्त्री के सतीत्व में संदेह करके अपने पुत्रों को उसका वध करनेकी आज्ञा दी, परन्तु परशुरामके सिवाय और किसीने माताके पवित्र शरीरपर हाथ छोडना स्वीकार नहीं किया, परशुराम ने फरसे के प्रहार से माता का मस्तक धड़से अलग करदिया, इससे प्रसन्नहोकर उनके पिताने कहा कि-वर माँगलो

परन्तु परशुरामजी ने कहा कि-यही वर दीजिये कि-मेरी माता फिर जीवित होजाय, पिताने 'तथास्तु' कहा। तदनन्तर वह मातृ-हत्याके पाप से छूटने के लिये तीर्थयात्रा करने को चलदिये, परन्तु इतने ही से जमदग्निके क्रोध से उत्पन्नहुआ पाप शान्त नहीं हुआ। एक समय जब जमदग्नि के पुत्र आश्रमसे बाहर गये हुए थे और जमदग्नि की पत्नी रेणुका आश्रम में अकेली ही थी उस समय कार्त्तवीर्य अर्जुन अतिथि बनकर आये और क्षत्रियपन के घमण्डमें अन्धे होकर महर्षि के होम की धेनुके बछड़ेको जबर-दस्ती लेकर चलेगये, परशुराम आये तो उनको यह अपमान की कहानी जमदग्निने सुनाई। बछड़े से हीन हुई धेनुके कातर शब्द को सुनकर परशुरामजी का क्रोध और दूना होगया, वह उसी समय फरसा लियेहुए गए और अर्जुन की सहस्र भुजाओं को काटकर उस को मारडाला। उससे कार्त्तवीर्य के कुटम्बी क्रुद्ध होकर जमदग्नि के आश्रम में घुसगये और जमदग्नि को मारडाला क्षमा के सिवाय और किसी प्रकार यह दुर्दैव नहीं दबसकता था, इसकारण हत्याकाण्ड यहाँ ही समाप्त नहीं हुआ। परशुराम ने आश्रम में आकर पिताके मरणके समाचार को सुनकर उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया की, उन्होने पिताके सामने पृथिवी को क्षत्रिय-हीन करने की प्रतिज्ञा की, उस प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिये वह कार्त्तवीर्यके कुटुम्बी, सम्बन्धी और अन्यान्य क्षत्रि-योंका वध करने में ही लगे रहे। यदि कोई हमारे साथ अन्याय और निर्दयीपने का व्यवहार करे तो उसके बदले में हमको मधुरवाक्य और श्रेष्ठ व्यवहार के द्वारा ही उसको परास्त करने का उद्योग करना चाहिये। एकसमय दुर्वासा ऋषि दुर्योधन के महल में जाकर अतिथि हुए उनको प्रसन्न रखना बडा ही कठिन था। दुर्योधन भ्राताओं सहित हरसमय डरतेहुए उनकी सेवा के लिये उपस्थित रहते थे। किसी समय दुर्वासा कहते थे कि-बड़ा भूख लगी है, शीघ्र भोजन लाओ, और फिर स्नान करने

को चलदेते थे। दुर्योधन भोजन तयार करके उनकी प्रतीक्षा करते थे। बहुत विलम्बसे लौटकर आते और कहने लगते किमुझको भूख नहीं है भोजन नहीं करूँगा फिर कुछ देरबाद आकर कहने लगते कि-शीघ्र भोजन दो। किसी दिन आधीरातको भोजन करना चाहा, परन्तु भोजनकी सामग्री आनेपर फिर एक कण भी नहीं छुआ, इसप्रकार कितने ही दिनोंतक दिक करनेपर दुर्योधन के धैर्य को देखकर प्रसन्न होगए और कहा कि-दुर्योधन मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं, जो अभिलाषा हो सो वर मांगले। धर्म और नीतिके विरुद्ध न हो ऐसा जोकुछ पदार्थ तू मांगेगा वही दूँगा।

कभी २ मनुष्य इतना कठोरहृदय होजाता है कि-किसीप्रकार भी उसके हृदय में बूंदभर भी दया का उदय नहीं होता है। ऐसी दशा होजाने पर उसका अधःपतन अवश्य ही होता है। इसका स्पष्टदृष्टांत दुर्योधन है, पांडवोंका सर्वस्व लेकर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। अपने नेत्रोंसे उनको कष्टमें पडाहुआ देखकर तृप्त होने के लिये और अपनी सम्पत्ति दिखाकर पांडवोंके मनको कष्ट देनेके लिये शकुनि अपने भ्राता और पुरवासियों को साथ लेकर द्वैतवन में गया, परंतु इससे यह इच्छा सफल नहीं हुई। गंधर्वराजने उसको तिरस्कार से पकड़कर नजरबंद करलिया। दुर्योधनके अनुचरोंमें से दो एकने भागकर इस दुर्योधन की विपत्ति का समाचार राजा युधिष्ठिर को सुनाया उन्होंने सुनते ही अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि-अभी जाओ भाइयों सहित दुर्योधनको छुटाकर अपने वंशकी मर्यादाकी रक्षा करो। भीमसेन ने पहिले तो यह बात नहीं मानी, परन्तु जब युधिष्ठिर ने कहा कि-भाई अनु-चित जिद क्यों करते हो, यदि कोई शरणमें आवे तो सबप्रकार से उसकी रक्षा करनी चाहिये, और एक शत्रु को विपत्ति से बचाने में जो आनन्द होता है, उसकी बराबरी पुत्रजन्म, राज्यलाभ और वरदानका आनन्द भी नहीं करसकता। यह सुनकर भीमसेनने फिर बडे भ्राता की आज्ञाको नहीं टाला। गंधर्वराज से थोडी

ही देर युद्ध हुआ, क्योंकि वह अर्जुनके मित्र थे, इसकारण यह जानते ही कि-यह तो पाण्डव युद्ध कररहे हैं, उसीसमय युद्ध बंद करलिया। अर्जुनने गन्धर्वराजसे दुर्योधनके ऊपर आक्रमण करने का कारण बूझा तब उन्होंने कहा कि-पांडवोंके वनवासके कारण से होतेहुए कष्टको देखकर और अपनी संपत्ति दिखाने से पांडवों के मनको दुःखित करके तृप्त होनेके लिये दुर्योधन सेना सहित वन में आया था। मैंने उसके मनका भाव जानलिया था, इसीकारण मेरी इच्छा थी कि-इसको वन्दी करके इन्द्रके पास लेजाकर यथोचित दंड दूं। पांडवोंने गन्धर्वराजकी प्रशंसा करके दुर्योधन को उसके साथियों सहित छोडदेने को कहा। और छूटजाने पर युधिष्ठिरने दुर्योधनसे कहा-भाई आगापीछा विनाविचारे चाहे जो कर बैठने का स्वभाव छोड दो, इसमें तुमको कभी आराम नहीं-मिलेगा। तुम्हारा मंगल हो, अब तुम झगडेको छोडकर हस्तिनापुरमें जाओ और सुखसे प्रजाओंका पालन करो। युधिष्ठिरने शत्रुके साथ भी ऐसा व्यवहार किया, परन्तु दुर्योधनका हृदय ऐसा क्रोध और दुःखसे भराहुआ था कि-उसको युधिष्ठिर का यह व्यवहार और दयालुभाव भी अपराध मालूम हुआ, वह हस्तिपुरमें आकर इसी विचारमें मग्न रहनेलगा कि-किसप्रकार पांडवों का अनिष्ट करूं ? परन्तु संसारमें दुर्योधनसे पुरुष कोई विरलेही होंगे नहीं तो जैसे सूर्य माखन को ताकर वहादेता है, तैसे ही दयालुता का व्यवहार प्रायः क्रोधको द्रवीभूत करदेता है।

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

यदि कोई क्रोध करे तो वदलेमें उसके ऊपरक्रोध नहीं करना चाहिये,किंतु कटुवचनभी कहै तो उसको मधुरशब्दोंमें समझादेय

सेतूंस्तरेद् दुस्तरानक्रोधेन क्रोधं सत्येनानृतम्।

वह दुस्तर नदीके पार होजाता है, जो कि-क्रोधको शांतिसे और मिथ्याको सत्यसे जीतलेता है।

आत्मानञ्च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥

जो क्रोधीके ऊपर क्रोध नहीं करता है, वह अपनी और शत्रु की, दोनों की रक्षा करनेवाला वैद्य है।

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्यत् है, क्षमा तप है और क्षमा ही शौच है,क्षमाही इस जगत्को धारण कियेहुए है

परश्चेदेनमिति वादैर्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यम्।
सरोष्यमाणःप्रतिहृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥
आक्रुश्यमाणो न वदामि किञ्चित् क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतदयं क्षमामाहुरार्याः सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम्॥
आक्रुश्यमाणो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥
येनात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियम्वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापञ्च यो नेच्छति तस्य हन्तुःतस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥
पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति॥

(महाभारत शान्तिपर्व ३०० अ०)

यदि कोई कटुवाक्य कहै तो चतुरपुरुष उससे रुष्ट न होय किंतु क्रोध दिलाने को जो बात कही हो उसके बदलेमें हँसता हुआ मीठी बात कहै, तो निःसन्देह क्रोधीके पुण्यको हरलेता है, कोई मुझको कटुवचन कहता है, तो मैं कुछ नहीं कहता, कोई मारता है तो मैं उसको सहलेता हूं, श्रेष्ठ पुरुषों ने क्षमा, सत्य, सरलता और शान्तभाव को श्रेष्ठ कहा है, कोई दुर्वाक्य कहै तो उसको दुर्वाक्य नहीं कहना चाहिये, क्रोधीके ऊपर रोष न करने से क्षमा करनेवालेका शील ही इसको जलाता है और उसके पुण्यको छीन लेता है। जो कटुवचन के बदले में कटुवचन नहीं कहता है,किन्तु दयालु होकर शान्ति करता है,जो चोट खाकर प्रहार नहीं करताहै उसकेस्वभावको देवता भी चाहते हैं।दुर्वचन वा प्रहारको सहकर भी जो साधु व्यवहार करता है,उससे सिद्धि दूर नहीं रहती है॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ (महाभारत वनपर्व)

उत्तेजित, ताड़ित और क्रुद्ध कियाजाने पर जा क्षमा करताहै उस क्रोधको जीतने वाले से उत्तम कोई नहीं है ।

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात्सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥
अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्म प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥
आक्रुष्टः पुरुषः सर्वम्प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥
हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि पितॄं स्तथा ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥
एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्ण न विद्यते ॥ २९ ॥

यदि पृथिवी की समान क्षमाशील न हों तो मेल का नाम ही न रहै, क्योंकि क्रोध कलह की जड है । क्षमा न हों तो कोई बुराई करै तो उसकी सब बुराई करं, गुरुजन ताड़ना करें तो उन के ऊपर प्रहार करें, मारनेवाले को मारें और हिंसा करनेवाले की हिंसा करैं, पिता पुत्रोंका नाश करडालें, पुत्र पिताओंके प्राण लें, पति स्त्रियोंके प्राण लें और स्त्रियें पतियोंका सर्वनाश कर डालें ऐसी गड़बड़ी होने पर लोकमें मनुष्य ही न रहैं ॥

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सुखमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

सब दुस्तर दुःखोंके पार हों, सब सुमङ्गल देखै, सब सुख पावें और सब सर्वत्र आनन्दसे रहैं ।

सत्यं वद, धर्मं चर, सत्यमेव जयति नानृतम् ।

सत्य बोलो, धर्माचरण करो, सत्यकी सदा जय होती है, झूठ की नहीं । सनातनधर्म शिक्षा सताप्त.

